क्रांति सूत्र

समय में जो कुछ भी है, सभी मरणधर्मा है। समय मृत्यु की गति है, उसके ही चरणों का वह माप है। समय में दौड़ना मृत्यु में दौड़ना है और सभी वहीं दौड़े जाते हैं। मैं सभी को स्वयं मृत्यु के मुंह में दौड़ते देखता हूं। ठहरो और सोचो! आपके पैर आपको कहां लिए जा रहे हैं? आप उन्हें चला रहे हैं या कि वे ही आपको चला रहे हैं।

प्रतिदिन ही कोई मृत्यु के मुंह में गिरता है और आप ऐसे खड़े रहते हैं जैसे यह दुर्भाग्य उस पर ही गिरने को था। आप दर्शक बने रहते हैं। यदि आपके पास सत्य को देखने की आंखें हों तो उसकी मृत्यु में अपनी भी मृत्यु दिखाई पड़ती है। वही आपके साथ भी होने को है—वस्तुतः हो ही रहा है। आप रोज-रोज मर ही रहे हैं। जिसे आपने जीवन समझ रखा है, वह क्रमिक मृत्यु है। हम सब धीरे-धीरे मरते रहते हैं। मरण की यह प्रक्रिया इनती धीमी है कि जब तक कि वह अपनी पूर्णता नहीं पा लेती तब तक प्रकट ही नहीं होती। उसे देखने के लिए विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाहिए।

चर्मचक्षुओं से तो केवल दूसरों की मृत्यु का दर्शन होता है किंतु विचार-चक्षु स्वयं को मृत्यु से घिरी और मृत्योन्मुख स्थिति को भी स्पष्ट कर देते हैं। स्वयं को इस संकट की स्थिति में घिरा जानकर ही जीवन को पाने की आकांक्षा का उद्‌भव होता है। जैसे कोई जाने कि वह जिस घर में बैठा है उसमें आग लगी हुई है और फिर उस घर के बाहर भागे, वैसे ही स्वयं के गृह को मृत्यु की लपटों से घिरा जान हमारे भीतर भी जीवन को पाने की तीव्र और उत्कट अभीप्सा पैदा होती है। इस अभीप्सा से बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं, क्योंकि वही जीवन के उत्तरोत्तर गहरे स्तरों में प्रवेश दिलाती है।

क्या आपके भीतर ऐसी कोई प्यास है? क्या आपके प्राण ज्ञात के ऊपर अज्ञात को पाने को आकुल हुए हैं?

यदि नहीं, तो समझें कि आपकी आंखें बंद हैं और आप अंधे बने हुए हैं। यह अंधापन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है।

जीवन तक पहुंचने के लिए आंखें चाहिए। उमंग रहते चेत जाना आवश्यक है। फिर पीछे से कुछ भी नहीं होता।

आंखें खोलें और देखें तो चारों ओर मृत्यु दिखाई पड़ेगी। समय में, संसार में मृत्यु ही है। लेकिन समय के—संसार के बाहर स्वयं में अमृत भी है। तथाकथित जीवन को जो मृत्यु की भांति जान लेता है, उसकी दृष्टि सहज ही स्वयं में छिपे अमृत की ओर उठने लगती है।

जो उस अमृत को पा लेता है, जी लेता है, उसे फिर कहीं भी मृत्यु नहीं रह जाती है। फिर बाहर भी मृत्यु नहीं है। मृत्यु भ्रम है और जीवन सत्य है।

मैं कौन हूं?

एक रात्रि की बात है। पूर्णिमा थी, मैं नदी-तट पर था, अकेला आकाश को देखता था। दूर-दूर तक सन्नाटा था। फिर किसी के पैरों की आहट पीछे सुनाई पड़ी। लौटक र देखा, एक युवा साधु खड़े थे। उनसे बैठने को कहा। बैठे, तो देखा कि वे रो रहे हैं। आंखों से झर-झर आंसू गिर रहे हैं। उन्हें मैंने निकट ले लिया। थोड़ी देर तक उ नके कंधे पर हाथ रखे मैं मौन बैठा रहा। न कुछ कहने को था, न कहने की स्थिति ही थी, किंतु प्रेम से भरे मौन ने उन्हें आश्वस्त किया। ऐसे कितना समय बीता कु छ याद नहीं। फिर अंततः उन्होंने कहा, 'मैं ईश्वर के दर्शन करना चाहता हूं। कहिए क्या ईश्वर है या कि मैं मृगतृष्णा में पड़ा हूं।'

मैं क्या कहता? उन्हें और निकट ले लिया। प्रेम के अतिरिक्त तो किसी और परमात मा को मैं जानता नहीं हूं।

प्रेम को न खोजकर जो परमात्मा को खोजता है, वह भूल में ही पड़ जाता है।

प्रेम के मंदिर को छोड़कर जो किसी और मंदिर की खोज में जाता है, वह परमात्मा से और दूर ही निकल जाता है।

किंतु, यह सब तो मेरे मन में था। वैसे मुझे चुप देखकर उन्होंने फिर कहा: 'कहिए—कुछ तो कहिए। मैं बड़ी आशा से आपके पास आया हूं। क्या आप मुझे ईश्वर के दर्शन नहीं करा सकते?'

फिर भी मैं क्या कहता? उन्हें और निकट लेकर उनकी आंसुओं से भरी आंखें चूम लीं। उन आंसुओं में बड़ी आकांक्षा थी, बड़ी अभीप्सा थी। निश्चय ही वे आंखें परमा त्मा के दर्शन के लिए बड़ी आकुल थीं। लेकिन, परमात्मा क्या बाहर है कि उसके द र्शन किए जा सकें? परमात्मा इतना भी तो पराया नहीं है कि उसे देखा जा सके! अंतः मैंने उनसे कहा—'जो तुम मुझसे पूछते हो, वही किसी ने श्री रमण से पूछा था । श्री रमण ने कहा था : 'ईश्वर के दर्शन? नहीं, नहीं, दर्शन नहीं हो सकते। लेकि न चाहो तो स्वयं ईश्वर अवश्य हो सकते हो।' यही मैं तुमसे कहता हूं। ईश्वर को पाने और जानने की खोज बिल्कुल ही अर्थहीन है। जिसे खोया ही नहीं है, उसे पाओ गे कैसे? और जो तुम स्वयं ही हो, उसे जानोगे कैसे? वस्तुतः जिसे हम देख सकते हैं, वह हमारा स्वरूप नहीं हो सकता। दृश्य बन जाने के कारण ही वह हमसे बाहर और पर हो जाता है। परमात्मा है हमारा स्वरूप और इसलिए उसका दर्शन असंभव है। मित्र, परमात्मा के नाम से जो दर्शन होते हैं, वे हमारी ही कल्पनाएं हैं। मनुष्य का मन किसी भी कल्पना को आकार देने में समर्थ है। किंतु इन कल्पनाओं में खो जाना सत्य से भटक जाना है।

यह घटना मुझे अनायास याद हो आई है क्योंकि आप भी तो ईश्वर के दर्शन करना चाहते हैं। उसी संबंध में कुछ कहूं, इसलिए ही आप यहां एकत्र हुए हैं।

मैं स्वयं भी ऐसे ही खोजता था। फिर खोजते-खोजते, खोज की व्यर्थता ज्ञात हुई। ज्ञ ात हुआ कि जो खोज रहा है, जब मैं उसे ही नहीं जानता हूं तो इस अज्ञान में डूबे रहकर सत्य को कैसे जान सकूंगा?

सत्य को जानने के पूर्व स्वयं को जानना तो अनिवार्य ही है।

और स्वयं को जानते ही जाना जाता है कि अब कुछ और जानने को शेष नहीं है। आत्मज्ञान की कुंजी के पाते ही सत्य का ताला खुल जाता है।

सत्य तो सब जगह है। समग्र सत्ता में वही है। किंतु उस तक पहुंचने का निकटतम मार्ग स्वयं में ही है। स्वयं की सत्ता ही चूंकि स्वयं के सर्वाधिक निकट है, इसलिए उसमें खोजने से ही खोज होनी संभव है।

और जो स्वयं में ही खोजने में असमर्थ है, जो निकट ही नहीं खोज पाता है तो दूर कैसे खोज पाएगा? दूर की खोज का विचार निकट की खोज से बचने का उपाय भी हो सकता है।

संसार की खोज चलती है ताकि स्वयं से बचा जा सके और फिर ईश्वर की खोज चलने लगती है। क्या स्वयं के अतिरिक्त शेष सब खोजें स्वयं से पलायन की ही विधियां नहीं हैं?

भीतर देखें। वहां क्या दिखता है? अंधकार, अकेलापन, रिक्तता? क्या इस अंधकार, इस अकेलेपन, इस रिक्तता से भागकर ही हम कहीं शरण लेने को नहीं भागते रहते हैं? किंतु इस भांति के भगोड़ेपन से दुःख के अतिरिक्त और कुछ भी हाथ नहीं लगता है। स्वयं से भागे हुए के लिए विफलता ही भाग्य है। क्योंकि जो खोज स्वयं से पलायन है, वह कहीं भी नहीं ले जा सकती है।

और दो ही विकल्प हैं : स्वयं से भागो या स्वयं में जागो। भागने के लिए बाहर लक्ष्य होना चाहिए और जानने के लिए बाहर के सभी लक्ष्यों की सार्थकता का भ्रम-भंग।

ईश्वर जब तक बाहर है, तब तक वह भी संसार है, वह भी माया है, वह भी मूच्छा है। उसका आविष्कार भी मनुष्य ने स्वयं से बचने और भागने के लिए ही किया है।

मित्र, इसलिए पहली बात तो मुझे यही कहनी है कि ईश्वर, सत्य, निर्वाण, मोक्ष— यह सब न खोजें। खोजें उसे जो सब खोज रहा है। उसकी खोज ही अंततः ईश्वर की, सत्य की और निर्वाण की खोज सिद्ध होती है।

आत्मानुसंधान के अतिरिक्त और कोई खोज धार्मिक खोज नहीं है।

लेकिन, 'आत्म ज्ञान', 'आत्म दर्शन' आदि शब्द बड़े भ्रामक हैं। क्योंकि, स्वयं का ज्ञान कैसे हो सकता है? ज्ञान के लिए द्वैत चाहिए, दुई चाहिए। जहां दो नहीं हैं, वहां ज्ञान कैसे होगा? दर्शन कैसे होगा? साक्षात कैसे होगा? वस्तुतः ज्ञान, दर्शनादि सभी शब्द द्वैत के जगत् के हैं। और जहां अद्वैत है, जहां एक ही है, वहां वे एकदम अर्थहीन हो जाते हों तो कोई आश्चर्य नहीं। मेरे देखे, 'आत्म-दर्शन' असंभावना है, वह शब्द ही असंगत है।

मैं कहता हूं—स्वयं को जानो। सुकरात ने यही कहा है, बुद्ध और महावीर ने भी यही कहा है। क्राइस्ट और कृष्ण ने भी यही कहा है। फिर भी स्मरण रहे कि जो जाना जा सकता है, वह स्व कैसे होगा? वह तो पर ही हो सकता है।जानना तो पर का ही हो सकता है। स्व तो वह है जो जानता है। स्व अनिवार्यरूप से ज्ञाता है। उसे ि

कसी भी उपाय से ज्ञेय नहीं बनाया जा सकता। तो फिर उसका ज्ञान तो ज्ञेय का हो ता है। ज्ञाता का ज्ञान कैसे होगा? जहां ज्ञान है, वहां कोई ज्ञाता है, कुछ ज्ञेय है। व हां कुछ जाना जाता है और कोई जानता है। अब ज्ञाता को ही जानने की चेष्टा क्य ा आंख को उसी आंख से देखने के प्रयास की भांति नहीं है? क्या कुत्तों को स्वयं अ पनी ही पूंछ को पकड़ने की असफल चेष्टा करते आपने कभी देखा है? वे जितनी त ीव्रता से झपटते हैं, पूंछ उतनी ही शीघ्रता से हट जाती है। इस प्रयास में वे पागल भी हो जाएं तो भी क्या उन्हें पूंछ की प्राप्ति हो सकती है? किंतु हो सकता है कि वे अपनी पूंछ पकड़ लें, लेकिन स्वयं को ज्ञेय बनाना तो संभव नहीं है।

मैं सबको जान सकता हूं लेकिन उसी भांति स्वयं को नहीं। शायद इसीलिए आत्मज्ञा न जैसी सरल घटना कठिन और दुरूह बनी रहती है।

फिर, हम आत्मज्ञान का क्या अर्थ करें? निश्चय ही वह वही ज्ञान नहीं है, जिससे ि क हम परिचित हैं। वह ज्ञाता-ज्ञेय का संबंध नहीं है। इसलिए चाहें तो उसे परम ज्ञा न कहें, क्योंकि फिर और कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता है या चाहें तो पर म अज्ञान, क्योंकि वहां जानने को ही कुछ नहीं होता है।

पदार्थ-ज्ञान विषय-विषयी का संबंध है, आत्मज्ञान विषय-विषयी का अभाव।

पदार्थ-ज्ञान में ज्ञाता है, और ज्ञेय है; आत्मज्ञान में न ज्ञेय है और न ज्ञाता। वहां तो मात्र ज्ञान है। वह शुद्ध ज्ञान है।

जगत् की सारी वस्तुएं ज्ञेय की भांति जानी जाती हैं। असल में जो ज्ञेय है, ज्ञेय बन ती है, वही है वस्तु—जो जानता है, ज्ञाता है, वही है अवस्तु। ज्ञाता और ज्ञेय का सं बंध है—पदार्थ-ज्ञान। किंतु जहां न ज्ञेय है, न कोई ज्ञाता— क्योंकि जहां ज्ञेय नहीं, व हां ज्ञाता कैसे होगा?वहां जो शेष रह जाता है, जो ज्ञान शेष रह जाता है, वही है आत्मज्ञान

ज्ञान की पूर्ण शुद्धावस्था का नाम ही है आत्मज्ञान।

और भी उचित है कि हम उसे ज्ञान ही कहें, क्योंकि वहां न कोई आत्म है और न अनात्म। बुद्ध ने ठीक ही किया कि उसे 'आत्मा' नहीं कहा। क्योंकि, उस शब्द में अहंता की ध्वनि है और जहां तक अहंता है, वहां तक आत्मा कहां?

इस ज्ञान को पाने की विधि क्या है, मार्ग क्या है, द्वार क्या है?

मैं एक घर में अतिथि था। उस घर में इतना सामान था कि हिलने-डुलने की भी ज गह न थी। घर तो बड़ा था, किंतु सामान की अधिकता से बिल्कुल छोटा हो गया था। वस्तुतः वहां सामान ही सामान था और घर था नहीं, क्योंकि घर तो दीवारों से घिरे रिक्त स्थान का ही नाम है। दीवारें नहीं, वह रिक्त स्थान ही गृह है क्योंकि द ीवारों में नहीं, रहना उस रिक्त स्थान में ही होता है। रात में गृहपति ने मुझसे कहा —'घर में जगह बिल्कुल नहीं है, लेकिन जगह लाएं भी कहां से?' उनकी बात सुन मैं हंसने लगा। मैंने फिर उनसे कहा—'रिक्त स्थान आपके घर में पर्याप्त है। वह यहीं है, और कहीं गया नहीं, केवल सामान से आपने उसे ढांक लिया है। कृपाकर सामा

न बाहर करें तो आप पाएंगे कि वह भीतर आ गया है। वह तो भीतर ही है, सामान के डर से दुबक गया है। सामान हटावें और वह अभी और यहीं है।'

आत्म-ज्ञान की विधि भी यही है।

मैं तो निरंतर हूं। सोते-जागते, उठते-बैठते, सुख में, दुःख में—मैं तो हूं ही। ज्ञान हो, अज्ञान हो, मैं तो हूं ही। मेरा यह होना असंदिग्ध है। सब पर संदेह किया जा सके, लेकिन स्वयं पर तो संदेह नहीं किया जा सकता है। जैसा कि देकार्त ने कहा है—'संदेह भी करूं तो भी मैं हूं, क्योंकि संदेह भी बिना उसके कौन करेगा?'

लेकिन, यह 'मैं' कौन हूं? यह 'मैं' क्या है? कैसे इसे जानूं? हूं सो तो ठीक लेकिन, क्या हूं? कौन हूं?

मैं हूं, यह असंदिग्ध है। और क्या यह भी असंदिग्ध नहीं है कि मैं जानता हूं—मुझमें ज्ञान है, चेतना है, दर्शन है?

यह हो सकता है कि जो जानूं, वह सत्य न हो, असत्य हो, स्वप्न हो, लेकिन मेरा जानना—जानने की क्षमता—तो सत्य है।

इन दो तथ्यों को देखें, विचार करें। मेरा होना—मेरा अस्तित्व और मेरी जानने की क्षमता—मुझमें ज्ञान का होना, इन दोनों के आधार पर ही मार्ग खोजा जा सकता है। मैं हूं, लेकिन ज्ञात नहीं कौन हूं? अब क्या करूं? ज्ञान जो कि क्षमता है, ज्ञान जो कि शक्ति है, उसमें झांकूं, और खोजूं। इसके अतिरिक्त और कोई विकल्प ही कहां है?

ज्ञान की शक्ति है, लेकिन वह ज्ञेय से—विषयों से—ढंकी है। एक विषय हटता है, तो दूसरा आ जाता है। एक विचार जाता है तो दूसरे का आगमन हो जाता है। ज्ञान एक विषय से मुक्त होता है तो दूसरे से बंध जाता है, लेकिन रिक्त नहीं हो पाता। यदि ज्ञान विषय-रिक्त हो तो क्या हो? क्या उस अंतराल में, उस रिक्तता में, उस शून्यता में ज्ञान स्वयं में ही होने के कारण स्वयं की सत्ता का उद्‌घाटक नहीं बन जाएगा? क्या जब जानने को कोई विषय नहीं होगा तो ज्ञान स्वयं को ही नहीं जानेगा?

ज्ञान जहां विषय-रिक्त है, वहीं वह स्वप्रतिष्ठ होता है।

ज्ञान जहां ज्ञेय से मुक्त है, वहीं वह शुद्ध है। और वह शुद्धता— शून्यता—ही आत्मज्ञान है।

चेतना जहां निर्विषय है, निर्विचार है, निर्विकल्प है, वहीं जो अनुभूति है, वहीं स्वयं का साक्षात्कार है।

किंतु, यहां इस साक्षात्कार में न तो कोई ज्ञाता है, न ज्ञेय है। यह अनुभूति अभूतपूर्व है। उसके लिए शब्द असंभव है।

लाओत्से ने कहा है—'सत्य के संबंध में जो भी कहो, वह कहने से ही असत्य हो जाता है।'

फिर भी सत्य के संबंध में जितना कहा गया है, उतना किस संबंध में कहा गया है? अनिर्वचनीय उसे कहें, तो भी कुछ कहते ही हैं? उसके संबंध में मौन रहें तो भी कुछ कहते ही हैं?

ज्ञान है शब्दातीत। किंतु प्रेम उसके आनंद की, उसके आलोक की, उसकी मुक्ति की खबर देना चाहता है, फिर चाहे वे इंगित कितने ही अधूरे हों और कितने ही असफल वे इशारे हों। गूंगा भी गुड़ के संबंध में कुछ कहता है? वह चाहे कुछ भी न कह पाता हो लेकिन गुड़ कहना चाहता है, यह तो कह ही देता है।

किंतु सत्य के संबंध में किए गए अधूरे इंगितों को पकड़ लेने से बड़ी भ्रांति हो जाती है। आत्मज्ञान की खोज में जो व्यक्ति आत्मा को एक ज्ञेय पदार्थ की भांति खोजने निकल पड़ता है, वह प्रथम चरण में ही गलत दिशा में चल पड़ता है।

आत्मा ज्ञेय नहीं है और न ही उसे किसी आकांक्षा का लक्ष्य ही बनाया जा सकता है, क्योंकि वह विषय भी नहीं है।

वस्तुतः उसे खोजा भी नहीं जा सकता क्योंकि यह खोजनेवाले का ही स्वरूप है। उस खोज में खोज और खोजी भिन्न नहीं है। इसलिए आत्मा को केवल वे ही खोज पाते हैं, जो सब खोज छोड़ देते हैं और वे ही जान पाते हैं जो सब जानने से शून्य हो जाते हैं।

खोज को—सब भांति की खोज को—छोड़ते ही चेतना वहां पहुंच जाती है, जहां वह सदा से ही है।

समाधि के बाद तथागत बुद्ध से किसी ने पूछा—'समाधि से आपको क्या मिला?' तो बुद्ध ने कहा था—'कुछ भी नहीं। खोया बहुत कुछ, पाया कुछ भी नहीं। वासना खोई, विचार खोए, सब भांति की दौड़ और तृष्णा खोई और पाया वह जो सदा से ही पाया हुआ है।'

मैं जिसे नहीं खो सकता हूं, वही तो है स्वरूप। मैं जिसे नहीं खो सकता हूं, वही तो है परमात्मा।

और सत्य क्या है? जो सदा है, सनातन है, वही तो है सत्य। इस सत्य को, इस स्वरूप को पाने के लिए चेतना से उस सबको खोना आवश्यक है जो कि सत्य नहीं है। जिसे खोया जा सकता है, उस सबको खोकर ही वह जान लिया जाता है, जो सत्य है। स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है।

मित्र, मैं पुनः दोहराता हूं—स्वप्न खोते ही सत्य उपलब्ध है। स्वप्न जहां नहीं हैं, तब जो शेष है, वही है स्व-सत्ता, वही है सत्य, वही है स्वतंत्रता।

धर्म क्या है?

मैं धर्म पर क्या कहूं? जो कहा जा सकता है, वह धर्म नहीं होगा। जो विचार के परे है, वह वाणी के अंतर्गत नहीं हो सकता है। शास्त्रों में जो हैं, वह धर्म नहीं है। शब्द ही वहां हैं। शब्द सत्य की ओर जाने के भले ही संकेत हों, पर वे सत्य नहीं हैं। शब्दों से संप्रदाय बनते हैं, और धर्म दूर ही रह जाता है। इन शब्दों ने ही मनुष्य को तोड़ दिया है। मनुष्यों के बीच पत्थरों की नहीं, शब्दों की ही दीवारें हैं।

मनुष्य और मनुष्य के बीच शब्द की दीवारें हैं। मनुष्य और सत्य के बीच भी शब्द की ही दीवार है। असल में जो सत्य से दूर किए हुए है, वही उसे सबसे दूर किए हुए है। शब्दों का एक मंत्र घेरा है और हम सब उसमें सम्मोहित हैं। शब्द हमारी निद्रा है, और शब्द के सम्मोहक अनुसरण में हम अपने आपसे बहुत दूर निकल गए हैं। स्वयं से जो दूर और स्वयं से जो अपरिचित है वह सत्य से निकट और सत्य से परिचित नहीं हो सकता है। यह इसलिए कि स्वयं का सत्य ही सबसे निकट का सत्य है, शेष सब दूर है। बस स्वयं ही दूर नहीं है।

शब्द स्वयं को नहीं जानने देते हैं। उनकी तरंगों में वह सागर छिप ही जाता है। शब्दों का कोलाहल उस संगीत को अपने तक नहीं पहुंचने देता जो कि मैं हूं। शब्द का धुआं सत्य की अग्नि प्रकट नहीं होने देता है, और हम अपने वस्त्रों को ही जानते-जानते मिट जाते हैं और उसे नहीं मिल पाते जिसके वस्त्र थे, और जो वस्त्रों में था, लेकिन केवल वस्त्र ही नहीं था।

मैं भीतर देखता हूं। वहां शब्द ही शब्द दिखाई देते हैं। विचार, स्मृतियां, कल्पनाएं और स्वप्न, ये सब शब्द ही हैं, और मैं शब्द के पर्त-पर्त घेरों में बंधा हूं। क्या मैं इन विचारों पर ही समाप्त हूं, याकि इनसे भिन्न और अतीत भी मुझमें कुछ है? इस प्रश्न के उत्तर पर ही सब कुछ निर्भर है। उत्तर विचार से आया तो मनुष्य धर्म तक नहीं पहुंच पाता, क्योंकि विचार, विचार से अतीत को नहीं जान सकता। विचार की सीमा विचार है। उसके पार की गंध भी उसे नहीं मिल सकती है।

साधारणत: लोग विचार से ही वापिस लौट आते हैं। वह अदृश्य दीवार उन्हें वापिस कर देती है। जैसे कोई कुआं खोदने जाए और कंकड़-पत्थर को पाकर निराश हो रुक जाए, वैसा ही स्वयं की खुदाई में भी हो जाता है। शब्दों के कंकड़-पत्थर ही पहले मिलते हैं और यह स्वाभाविक ही है। वे ही हमारी बाहरी पर्त हैं। जीवन-यात्रा में उनकी ही धूल हमारा आवरण बन गई है।

आत्मा को पाने को सब आवरण चीर देने जरूरी हैं। वस्त्रों के पार जो नग्न सत्य है, उस पर ही रुकना है। शब्द को उस समय तक खोदे चलना है, जब तक कि नि:शब्द का जलस्रोत उपलब्ध नहीं हो जाए। विचार की धूल को हटाना है, जब तक कि मौन का दर्पण हाथ न आ जाए। यह खुदाई कठिन है। यह वस्त्रों को उतारना ही नहीं है, अपनी चमड़ी को उतारना है। यही तप है।

प्याज को छीलते हुए देखा है? ऐसा ही अपने को छीलना है। प्याज में तो अंत में कुछ भी नहीं बचता है, अपने में सब कुछ बच रहता है। सब छीलने पर जो बच रहता है, वही वास्तविक है। वही मेरी प्रामाणिक सत्ता है। वह मेरी आत्मा है।

एक-एक विचार को उठाकर दूर रखते जाना है, और जानना है कि यह मैं नहीं हूं, और इस भांति गहरे प्रवेश करना है। शुभ या अशुभ को नहीं चुनना है। वैसा चुनाव वैचारिक ही है, और विचार के पार नहीं ले जाता। यहीं नीति और धर्म अलग रास्तों के लिए हो जाते हैं। नीति अशुभ विचारों के विरोध में शुभ विचारों का चुनाव है। धर्म चुनाव नहीं है। वह तो उसे जानना है, जो सब चुनाव करता है, और सब

चुनावों के पीछे है। यह जानना भी हो सकता है, जब चुनाव का सब चुनाव शून्य हो और केवल वही शेष रह जाए तो हमारा चुनाव नहीं है वरन हम स्वयं हैं। विचार के तटस्थ, चुनाव-शून्य निरीक्षण से विचार-शून्यता आती है। विचार तो नहीं रह जाते, केवल विवेक रह जाता है। विषय-वस्तु तो नहीं होती, केवल चैतन्य मात्र रह जाता है। इसी क्षण में प्रसुप्त प्रज्ञा का विस्फोट होता है, और धर्म के द्वार खुल जाते हैं।

इसी उद्घाटन के लिए मैं सबको आमंत्रित करता हूं। शास्त्र जो तुम्हें नहीं दे सकते, वह स्वयं तुम्हीं में है, और तुम्हें जो कोई भी नहीं दे सकता, उसे तुम अभी और इसी क्षण पा सकते हो। केवल शब्द को छोड़ते ही सत्य उपलब्ध होता है।

विज्ञान की अग्नि में धर्म और विश्वास

मैं स्मरण करता हूं मनुष्य के इतिहास की सबसे पहली घटना को। कहा जाता है कि जब आदम और ईव स्वर्ग के राज्य से बाहर निकाले गए तो आदम ने द्वार से निकलते हुए जो सबसे पहले शब्द ईव से कहे थे, वे थे--'हम एक बहुत बड़ी क्रांति से गुजर रहे हैं।' पता नहीं पहले आदमी ने कभी यह कहा था या नहीं, लेकिन न भी कहा हो तो भी उसके मन में तो ये भाव रहे ही होंगे। एक बिल्कुल ही अज्ञात जगत् में वह प्रवेश कर रहा था। जो परिचित था वह छूट रहा था, और जो बिल्कुल ही परिचित नहीं था, उस अनजाने और अजनबी जगत् में उसे जाना पड़ रहा था। अज्ञात सागर में नौका खोलते समय ऐसा लगना स्वाभाविक ही है। ये भाव प्रत्येक युग में आदमी को अनुभव होते रहे हैं, क्योंकि जीवन का विकास तो निरंतर अज्ञात से अज्ञात में ही है।

जो ज्ञात हो जाता है उसे छोड़ना पड़ता है, ताकि जो अज्ञात है वह भी ज्ञात हो सके। ज्ञात की ज्योति, ज्ञात से अज्ञात में चरण रखने के साहस से ही प्रज्वलित और परिवर्तित होती है। जो ज्ञात पर रुक जाता है, वह अज्ञात पर ही रुक जाता है। ज्ञात पर रुक जाना ज्ञात की दिशा नहीं है। जब तक मनुष्य पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक निरंतर ही पुराने और परिचित को बिदा देनी होगी और नए तथा अपरिचित का स्वागत करना होगा। नए सूर्य के उदय के लिए रोज ही परिचित पुराने सूर्य को बिदा दे देनी होती है। फिर संक्रमण की बेला में रात्रि के अंधकार से भी गुजरना होता है। विकास की यह प्रक्रिया निश्चित ही बहुत कष्टप्रद है। लेकिन बिना प्रसव-पीड़ा के कोई जन्म भी तो नहीं होता है।

हम भी इस प्रसव-पीड़ा से गुजर रहे हैं। हम भी एक अभूतपूर्व क्रांति से गुजर रहे हैं। शायद मानवीय चेतना में इतनी आमूल क्रांति का कोई समय भी नहीं आया था। थोड़े-बहुत अर्थों में तो परिवर्तन सदैव होता रहता है, क्योंकि परिवर्तन के अभाव में कोई जीवन ही नहीं है। लेकिन परिवर्तन की सतत प्रक्रिया कभी-कभी वाष्पीकरण के उत्ताप-बिंदु पर भी पहुंच जाती है और तब आमूल क्रांति घटित हो जाती है। वह

बीसवीं सदी एक ऐसे ही उत्ताप बिंदु पर मनुष्य को ले आई है। इस क्रांति से उस की चेतना एक बिल्कुल ही नए आयाम में गतिमय होने को तैयार हो रही है।
हमारी यात्रा अब एक बहुत ही अज्ञात मार्ग पर होनी संभावित है। जो भी ज्ञात है, वह छूट रहा है और जो भी परिचित और जाना-माना है, वह विलीन होता जाता है। सदा से चले आते जीवन-मूल्य खंडित हो रहे हैं और परंपरा की कड़ियां टूट रही हैं। निश्चित ही यह किसी बहुत बड़ी छलांग की पूर्व तैयारी है। अतीत की भूमि से उखड़ रही हमारी जड़ें किसी नई भूमि में स्थानांतरित होना चाहती हैं और परंपरा ओं के गिरते हुए पुराने भवन किन्हीं नये भवनों के लिए स्थान खाली कर रहे हैं?
इन सबमें मैं मनुष्य को जीवन के बिल्कुल ही अज्ञात रहस्य-द्वारों पर चोट करते देख रहा हूं। परिचित और चक्रीय गति से बहुत चले हुए मार्ग उजाड़ हो गए हैं और भविष्य के अत्यंत अपरिचित और अंधकारपूर्ण मार्गों को प्रकाशित करने की चेष्टा च ल रही है। यह बहुत शुभ है, और मैं बहुत आशा से भरा हुआ हूं। क्योंकि यह सब चेष्टा इस बात का सुसमाचार है कि मनुष्य की चेतना कोई नया आरोहण करना चा हती है। हम विकास के किसी सोपान के निकट हैं। मनुष्य अब वही नहीं रहेगा जो वह था। कुछ होने को है, कुछ नया होने को है।
जिनके पास दूर देखनेवाली आंखें हैं वे देख सकते हैं, और जिनके पास दूर को सुनने वाले कान हैं वे सुन सकते हैं। बीज जब टूटता है और अपने अंकुर को सूर्य की तल ाश में भूमि के ऊपर भेजता है तो जैसी उथल-पुथल उसके भीतर होती है, वैसी ही उथल-पुथल का सामना हम भी कर रहे हैं। इसमें घबराने और चिंतित होने का क ोई भी कारण नहीं है। यह अराजकता संक्रमणकालीन है।
इसके भय से पीछे लौटने की वृत्ति आत्मघाती है। फिर पीछे लौटना तो कभी संभव नहीं है। जीवन आगे की ओर ही जाता है। जैसे सुबह होने के पूर्व अंधकार और भी घना हो जाता है, ऐसे ही नए के जन्म के पूर्व अराजकता की पीड़ा भी बहुत सघन हो जाती है।
हमारी चेतना में हो रही इस सारी उथल-पुथल, अराजकता, क्रांति और नए के जन् म की संभावना का केंद्र और आधार विज्ञान है। विज्ञान के आलोक ने हमारी आंखें खोल दी हैं और हमारी नींद तोड़ दी है। उसने ही हमसे हमारे बहुत-से दीर्घ पोषित स्वप्न छीन लिए हैं और बहुत से वस्त्र भी और हमारे स्वयं के समक्ष ही नग्न खड़ा कर दिया है, जैसे किसी ने हमें झकझोर कर अर्धरात्रि में जगा दिया हो। ऐसे ही ि वज्ञान ने हमें जगा दिया है।
विज्ञान ने मनुष्य का बचपन छीन लिया है और उसे प्रौढ़ता दे दी है। उसकी ही खो जों और निष्पत्तियों ने हमें हमारी परंपरागत और रूढ़िबद्ध चिंतना से मुक्त कर दिय ा है, जो वस्तुतः चिंतना नहीं, मात्र चिंतन का मिथ्या आभास ही थी; क्योंकि जो वि चार स्वतंत्र न हो वह विचार ही नहीं होता है। सदियों-सदियों से जो अंधविश्वास म कड़ी के जालों की भांति हमें घेरे हुए थे, उसने उन्हें तोड़ दिया है, और यह संभव

हो सका है कि मनुष्य का मन विश्वास की कारा से मुक्त होकर विवेक की ओर अग्रसर हो सके।

कल तक के इतिहास को हम विश्वास-काल कह सकते हैं। आनेवाला समय विवेक का होगा। विश्वास से विवेक में आरोहण ही विज्ञान की सबसे बड़ी देन है। यह विश्वास का परिवर्तन-मात्र नहीं है, वरन विश्वास से मुक्ति है। श्रद्धाएं तो सदा बदलती रहती हैं। पुराने विश्वासों की जगह नए विश्वास जन्म लेते रहे हैं। लेकिन आज जो विज्ञान के द्वारा संभव हुआ है, वह बहुत अभिनव है। पुराने विश्वास चले गए हैं और नयों का आगमन नहीं हुआ है। पुरानी श्रद्धाएं मर गई हैं, और नई श्रद्धाओं का आविर्भाव नहीं हुआ है। यह रिक्तता अभूतपूर्व है।

श्रद्धा बदली नहीं, शून्य हो गई है। श्रद्धा-शून्य तथा विश्वास-शून्य चेतना का जन्म हुआ है। विश्वास बदल जाएं तो कोई मौलिक भेद नहीं पड़ता है। एक की जगह दूसरे आ जाते हैं। अर्थी को ले जाते समय जैसे लोग कंधा बदल लेते हैं, वैसा ही यह परिवर्तन है। विश्वास की वृत्ति तो बनी ही रहती है। जबकि विश्वास की विषय-वस्तु नहीं, विश्वास की वृत्ति ही असली बात है। विज्ञान ने विश्वास को नहीं बदला है, उसने तो उसकी वृत्ति को ही तोड़ डाला है।

विश्वास-वृत्ति ही अंधानुगमन में ले जाती है और वही पक्षपातों के चित्त को बांधती है। जो चित्त पक्षपातों से बंधा हो, वह सत्य को नहीं जान सकता है। जानने के लिए निष्पक्ष होना आवश्यक है।

जो कुछ भी मान लेता है, वह सत्य को जानने से वंचित हो जाता है। वह मानना ही उसका बंधन बन जाता है, जबकि सत्य के साक्षात के लिए चेतना का मुक्त होना आवश्यक है। विश्वास नहीं, विवेक ही सत्य के द्वार तक ले जाने में समर्थ है और विवेक के जागरण में विश्वास से बड़ी और कोई बाधा नहीं है।

यह स्मरणीय है कि जो व्यक्ति विश्वास कर लेता है, वह कभी खोजता नहीं। खोज तो संदेह से होती है, श्रद्धा से नहीं। समस्त ज्ञान का जन्म संदेह से होता है। संदेह का अर्थ अविश्वास नहीं है। अविश्वास तो विश्वास का ही निषेधात्मक रूप है। खोज न तो विश्वास से होती है, न अंधविश्वास से। उसके लिए तो संदेह की स्वतंत्र चित्त-दशा चाहिए। संदेह केवल सत्य की खोज का पथ प्रशस्त करता है।

विज्ञान ने जो तथाकथित ज्ञान प्रचलित और स्वीकृत था, उस पर संदेह किया और संदेह ने अनुसंधान के द्वार खोल दिए। संदेह जैसे-जैसे विश्वासों या अंधविश्वासों से मुक्त हुआ, वैसे-वैसे विज्ञान के चरण सत्य की ओर बढ़े। विज्ञान का न तो किसी पर विश्वास है न अविश्वास, वह तो पक्षपातशून्य अनुसंधान है।

प्रयोग-जन्य ज्ञान के अतिरिक्त कुछ भी मानने की वहां तैयारी नहीं। वह न तो आस्तिक है, न नास्तिक। उसकी कोई पूर्व मान्यता नहीं है। वह कुछ भी सिद्ध नहीं करना चाहता है। सिद्ध करने के लिए उसकी अपनी कोई धारणा नहीं है। वह तो जो सत्य है, उसे ही जानना चाहता है। यही कारण है कि विज्ञान के पंथ और संप्रदाय नहीं बने और उसकी निष्पत्तियां सार्वलौकिक हो सकीं।

जहां पूर्वधारणाओं और पूर्वपक्षपातों से प्रारंभ होगा वहां अंततः सत्य नहीं, संप्रदाय ही हाथ में रह जाते हैं। अज्ञान और अंधेपन में स्वीकृत कोई भी धारणा सार्वलौकिक नहीं हो सकती। सार्वलौकिक तो केवल सत्य हो सकता है।

यही कारण है कि जहां विज्ञान एक है, वहां तथाकथित धर्म अनेक और परस्पर विरोधी हैं। धर्म भी जिस दिन विश्वासों पर नहीं शुद्ध विवेक पर आधारित होगा, उस दिन अपरिहार्य रूप से एक ही हो जाएगा। विश्वास अनेक हो सकते हैं, पर विवेक एक ही है। असत्य अनेक हो सकते हैं, पर सत्य एक ही है।

धर्म का प्राण श्रद्धा थी। श्रद्धा का अर्थ है बिना जाने मान लेना। श्रद्धा नहीं तो धर्म भी नहीं। श्रद्धा के साथ ही उसकी छाया की भांति तथाकथित धर्म भी चला गया। धर्म-विरोधी नास्तिकता का प्राण अश्रद्धा थी। अश्रद्धा का अर्थ है—बिना जाने अस्वीकार कर देना। वह श्रद्धा के ही सिक्के का दूसरा पहलू है। श्रद्धा गई तो वह भी गई। आस्तिकता-नास्तिकता दोनों ही मृत हो गई हैं। उन दो द्वंद्वों, दो अतियों के बीच ही सदा से हम डोलते रहे हैं।

विज्ञान ने एक तीसरा विकल्प दिया है। यह संभव हुआ है कि कोई व्यक्ति आस्तिक-नास्तिक दोनों ही न हो और वह स्वयं को किन्हीं भी विश्वासों से न बांधे। जीवन-सत्य के संबंध में वह परंपरा और प्रचार से अवचेतन में डाली गई धारणाओं से अपने आपको मुक्त कर ले। समाज और संप्रदाय प्रत्येक के चित्त की गहरी पर्तों में अत्यंत अबोध अवस्था में ही अपनी स्वीकृत मान्यताओं को प्रवेश कराने लगते हैं।

हिंदू, जैन, बौद्ध, ईसाई या मुसलमान अपनी-अपनी मान्यताओं और विश्वासों को बच्चों के मन में डाल देते हैं। निरंतर पुनरुक्ति और प्रचार से वे चित्त की अवचेतन पर्तों में बद्धमूल हो जाती हैं और वैसा व्यक्ति फिर स्वतंत्र चिंतन के लिए करीब-करीब पंगु-सा हो जाता है। यही कम्युनिज्म या नास्तिक धर्म कर रहा है।

व्यक्तियों के साथ उनकी अबोध अवस्था में किया गया यह अनाचार मनुष्य के विपरीत किए जानेवाले बड़े से बड़े पापों में से एक है। चित्त इस भांति परतंत्र और विश्वासों के ढांचे में कैद हो जाता है। फिर उसकी गति पटरियों पर दौड़ते वाहनों की भांति हो जाती है। पटरियां जहां से ले जाती हैं, वहीं वह जाता है, और उसे यही भ्रम होता है कि मैं जा रहा हूं।

दूसरों से मिले विश्वास ही उसके विचारों में प्रकट या प्रच्छन्न होते हैं, लेकिन भ्रम उसे यही कहता है कि ये विचार मेरे हैं। विश्वास यांत्रिकता को जन्म देता है और चेतना के विकास के लिए यांत्रिकता से घातक और क्या हो सकता है?

विश्वासों से पैदा हुई मानसिक गुलामी और जड़ता के कारण व्यक्ति की गति कोल्हू के बैल की-सी हो जाती है। वह विश्वासों की परिधि में ही घूमता रहता है और विचार कभी नहीं कर पाता।

विचार के लिए स्वतंत्रता चाहिए। चित्त की पूर्ण स्वतंत्रता में ही प्रसुप्त विचार-शक्ति का जागरण होता है और विचार-शक्ति का पूर्ण आविर्भाव ही सत्य तक ले जाता है।

विज्ञान ने मनुष्य की विश्वास-वृत्ति पर प्रहार कर बड़ा ही उपकार किया है। इस भांति उसने मानसिक स्वतंत्रता के आधार भर रख दिए हैं। इससे धर्म का भी एक नया जन्म होगा।

धर्म अब विश्वास पर नहीं, विवेक पर आधारित होगा। श्रद्धा नहीं, ज्ञान ही उसका प्राण होगा। धर्म भी अब वस्तुतः विज्ञान ही होगा। विज्ञान पदार्थों का विज्ञान है। धर्म चेतना का विज्ञान होगा। वस्तुतः सम्यक् धर्म तो सदा से ही विज्ञान रहा है।

महावीर, बुद्ध, ईसा, पतंजलि या लाओत्से की अनुभूतियां विश्वास पर नहीं, विवेकपूर्ण आत्मप्रयोगों पर ही निर्भर थीं। उन्होंने जो जाना था, उसे ही माना था। मानना प्रथम नहीं, अंतिम था। श्रद्धा आधार नहीं, शिखर थी। आधार तो ज्ञान था। जिन सत्यों की उन्होंने बात की है, वे मात्र उनकी धारणाएं नहीं हैं, वरन स्वानुभूत प्रत्यक्ष हैं। उनकी अनुभूतियों में भेद भी नहीं है। उनके शब्द भिन्न हैं, लेकिन सत्य भिन्न नहीं।

सत्य तो भिन्न-भिन्न हो भी नहीं सकते। लेकिन ऐसा वैज्ञानिक धर्म कुछ अतिमानवीय चेतनाओं तक ही सीमित रहा है। वह लोक-धर्म नहीं बना। लोक-धर्म तो अंधविश्वास ही बना रहा है। विज्ञान की चोटें अंधविश्वास पर आधारित धर्म को निष्प्राण किए दे रही हैं। यह वास्तविक धर्म के हित में ही है। विवेक की कोई भी विजय अंततः वास्तविक धर्म के विरोध में नहीं हो सकती। विज्ञान की अग्नि में अंधविश्वासों का कूड़ा-कचरा ही जल जाएगा, धर्म और भी निखरकर प्रकट होगा।

धर्म का स्वर्ण विज्ञान की अग्नि में शुद्ध हो रहा है, और धर्म जब अपनी पूरी शुद्धि में प्रकट होगा तो मनुष्य के चेतना-जगत् में एक अत्यंत सौभाग्यपूर्ण सूर्योदय हो जाएगा। प्रज्ञा और विवेक पर आरूढ़ धर्म निश्चय ही मनुष्य को अतिमानवीय चेतना में प्रवेश दिला सकता है। उसके अतिरिक्त मनुष्य की चेतना स्वयं का अतिक्रमण नहीं कर सकती, और जब मनुष्य स्वयं का अतिक्रमण करता है तो प्रभु से एक हो जाता है।

मनुष्य का विज्ञान

मैं सुनता हूं कि मनुष्य का मार्ग खो गया है। यह सत्य है। मनुष्य का मार्ग उसी दिन खो गया, जिस दिन उसने स्वयं को खोजने से भी ज्यादा मूल्यवान किन्हीं और खोजों को मान लिया।

मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सार्थक वस्तु मनुष्य के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसकी पहली खोज वह स्वयं ही हो सकता है। खुद को जाने बिना उसका सारा जानना अंततः घातक ही होगा।

अज्ञान के हाथों में कोई भी ज्ञान सृजनात्मक नहीं हो सकता, और ज्ञान के हाथों में अज्ञान भी सृजनात्मक हो जाता है।

मनुष्य यदि स्वयं को जाने और जीते, तो उसकी शेष सब जीतें उसकी और उसके जीवन की सहयोगी होंगी। अन्यथा वह अपने ही हाथों अपनी कब्र के लिए गड्ढा खोदेगा।

हम ऐसा ही गड्ढा खोदने में लगे हैं। हमारा ही श्रम हमारी मृत्यु बनकर खड़ा हो गया है। पिछली सभ्यताएं बाहर के आक्रमणों और संकटों से नष्ट हुई थीं। हमारी सभ्यता पर बाहर से नहीं, भीतर से संकट है। बीसवीं सदी का यह समाज यदि नष्ट हुआ तो उसे आत्मघात कहना होगा और यह हमें ही कहना होगा क्योंकि बाद में कहने को कोई भी बचने को नहीं है।

संभाव्य युद्ध इतिहास में कभी नहीं लिखा जाएगा। यह घटना इतिहास के बाहर घटेगी, क्योंकि उसमें तो समस्त मानवता का अंत होगा। पहले के लोगों ने इतिहास बनाया, हम इतिहास मिटाने को तैयार हैं।

और इस आत्मघाती संभावना का कारण एक ही है। वह है, मनुष्य का मनुष्य को ठीक से न जानना। पदार्थ की अनंत शक्ति से हम परिचित हैं--परिचित ही नहीं, उसके हम विजेता भी हैं। पर मानवीय हृदय की गहराइयों का हमें कोई पता नहीं। उन गहराइयों में छिपे विष और अमृत का भी कोई ज्ञान नहीं है।

पदार्थाणु को हम जानते हैं, पर आत्माणु को नहीं। यही हमारी विडंबना है। ऐसे शक्ति तो आ गई है, पर शांति नहीं। अशांत और अप्रबुद्ध हाथों से आई हुई शक्ति से ही यह सारा उपद्रव है। अशांत और अप्रबुद्ध का शक्तिहीन होना ही शुभ होता है। शक्ति सदा शुभ नहीं। वह तो शुभ हाथों में ही शुभ होती है।

हम शक्ति को खोजते रहे, यही हमारी भूल हुई। अब अपनी ही उपलब्धि से खतरा है। सारे विश्व के विचारकों और वैज्ञानिकों को आगे स्मरण रखना चाहिए कि उनकी खोज मात्र शक्ति के लिए न हो। उस तरह की अंधी खोज ने ही हमें इस अंत पर लाकर खड़ा किया है।

शक्ति नहीं, शांति लक्ष्य बने। स्वभावतः यदि शांति लक्ष्य होगी, तो खोज का केंद्र प्रकृति नहीं, मनुष्य होगा। जड़ की बहुत खोज और शोध हुई। अब मनुष्य का और मन का अन्वेषण करना होगा। विजय की पताकाएं पदार्थ पर नहीं, स्वयं पर गाड़नी होंगी।

भविष्य का विज्ञान पदार्थ का नहीं, मूलतः मनुष्य का विज्ञान होगा। समय आ गया है कि यह परिवर्तन हो। अब इस दिशा में और देर करनी ठीक नहीं है। कहीं ऐसा न हो कि फिर कुछ करने को समय भी शेष न बचे।

जड़ की खोज में जो वैज्ञानिक आज भी लगे हैं, वे दकियानूसी हैं, और उनके मस्तिष्क विज्ञान के आलोक से नहीं, परंपरा और रूढ़ि के अंधकार में ही डूबे कहे जावेंगे। जिन्हें थोड़ा भी बोध है और जागरूकता है, उनके अन्वेषण की दिशा आमूल बदल जानी चाहिए। हमारी सारी शोध मनुष्य को जानने में लगे, तो कोई भी कारण नहीं है कि जो शक्ति पदार्थ और प्रकृति को जानने और जीतने में इतने अभूतपूर्व रूप

से सफल हुई है, वह मनुष्य को जानने में सफल न हो सके। मनुष्य भी निश्चय ही जाना, जीता और परिवर्तित किया जा सकता है।

मैं निराश होने का कोई भी कारण नहीं देखता। हम स्वयं को जान सकते हैं और स्वयं के ज्ञान पर हमारे जीवन और अंतःकरण के बिल्कुल ही नए आधार रखे जा सकते हैं। एक बिल्कुल ही अभिनव मनुष्य को जन्म दिया जा सकता है। अतीत में विभिन्न धर्मों ने इस दिशा में बहुत काम किया है, लेकिन वह कार्य अपनी पूर्णता और समग्रता के लिए विज्ञान की प्रतीक्षा कर रहा है। धर्मों ने जिसका प्रारंभ किया है, विज्ञान उसे पूर्णता तक ले जा सकता है। धर्मों ने जिसके बीज बोए हैं, विज्ञान उस की फसल काट सकता है।

पदार्थ के संबंध में विज्ञान और धर्म के रास्ते विरोध में पड़ गए थे, उसका कारण दकियानूसी धार्मिक लोग थे। वस्तुतः धर्म पदार्थ के संबंध में कुछ भी कहने का हकदार नहीं था। वह उसकी खोज की दिशा ही नहीं थी। विज्ञान उस संघर्ष में विजय हो गया, यह अच्छा हुआ। लेकिन इस विजय से यह न समझा जाए कि धर्म के पास कुछ कहने को नहीं है। धर्म के पास कुछ कहने को है और बहुत मूल्यवान संपत्ति है। यदि उस संपत्ति से लाभ नहीं उठाया गया तो उसका कारण रूढ़िग्रस्त पुराणपंथी वैज्ञानिक होंगे। एक दिन एक दिशा में धर्म विज्ञान के समक्ष हार गया था। अब समय है कि उसे दूसरी दिशा में विजय मिले और धर्म और विज्ञान सम्मिलित हों। उनकी संयुक्त साधना ही मनुष्य को उसके स्वयं के हाथों से बचाने में समर्थ हो सकती है।

पदार्थ को जानकर जो मिला है, आत्मज्ञान से जो मिलेगा, उसके समक्ष वह कुछ भी नहीं है। धर्मों ने वह संभावना बहुत थोड़े लोगों के लिए खोली है। वैज्ञानिक होकर वह द्वार सबके लिए खुल सकेगा। धर्म विज्ञान बने और विज्ञान धर्म बने, इसमें ही मनुष्य का भविष्य और हित है।

मानवीय चित्त में अनंत शक्तियां हैं और जितना उनका विकास हुआ है, उससे बहुत ज्यादा विकास की प्रसुप्त संभावनाएं हैं। इन शक्तियों की अवस्था और अराजकता ही हमारे दुःख के कारण हैं, और जब व्यक्ति का चित्त अव्य वस्थित और अराजक होता है तो वह अराजकता समष्टि चित्त तक पहुंचते ही अनंतगुणा हो जाती है।

समाज व्यक्तियों के गुणनफल के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वह हमारे अंतर्संबंधों का ही फैलाव है। व्यक्ति ही फैलकर समाज बन जाता है। इसलिए स्मरण रहे कि जो व्यक्ति में घटित होता है, उसका ही वृहत् रूप समाज में प्रतिध्वनित होगा। सारे युद्ध मनुष्य के मन में लड़े गए हैं और सारी विकृतियों की मूल जड़ें मन में ही हैं।

समाज को बदलना है तो मनुष्य को बदलना होगा; और समष्टि के नए आधार रखने हैं, तो व्यक्ति को नया जीवन देना होगा।

मनुष्य के भीतर विष और अमृत दोनों हैं। शक्तियों की अराजकता ही विष है और शक्तियों का संयम, सामंजस्य और संगीत ही अमृत है।

जीवन जिस विधि से सौंदर्य और संगीत बन जाता है, उसे ही मैं योग कहता हूं। जो विचार, जो भाव और जो कर्म मेरे अंतःसंगीत के विपरीत जाते हों, वे ही पाप हैं, और जो उसे पैदा और समृद्ध करते हों, उन्हें ही मैंने पुण्य जाना है। चित्त की व ह अवस्था जहां संगीत शून्य हो जाए और सभी पूर्ण अराजक हों, नरक है और वह अवस्था स्वर्ग है, जहां संगीत पूर्ण हो।

भीतर जब संगीत पूर्ण होता है तो ऊपर से पूर्ण का संगीत अवतरित होने लगता है। व्यक्ति जब संगीत हो जाता है, तो समस्त विश्व का संगीत उसकी ओर प्रवाहित होने लगता है।

संगीत से भर जाओ तो संगीत आकृष्ट होता है; विसंगीत विसंगति को आमंत्रित क रेगा। हम में जो होता है, वही हम में आने भी लगता है, उसकी संग्राहकता और सं वेदनशीलता हम में होती है।

उस विज्ञान को हमें निर्मित करना है, जो व्यक्ति के अंतर्जीवन को स्वास्थ्य और संग ीत दे सके। यह किसी और प्रभु के राज्य के लिए नहीं वरन इसी जगत् और पृथ्वी के लिए है। यह जीवन ठीक हो तो किसी और जीवन की चिंता अनावश्यक है। इस के ठीक न होने से ही परलोक की चिंता पकड़ती है। जो इस जीवन को सम्यक् रूप देने में सफल हो जाता है, वह अनायास ही समस्त भावी जीवनों को सुदृढ़ और शु भ आधार देने में भी समर्थ हो जाता है। वास्तविक धर्म का कोई संबंध परलोक से नहीं है। परलोक तो इस लोक का परिणाम है।

धर्मों का परलोक की चिंता में होना बहुत घातक और हानिकारक हुआ है। उसके ह ी कारण हम जीवन को शुभ और सुंदर नहीं बना सके। धर्म परलोक के लिए रहे अ ौर विज्ञान पदार्थ के लिए—इस भांति मनुष्य और उसका जीवन उपेक्षित हो गया। प रलोक पर शास्त्र और दर्शन निर्मित हुए और पदार्थ की शक्तियों पर विजय पाई ग ई। किंतु जिस मनुष्य के लिए यह सब हुआ, उसे हम भूल गए। अब मनुष्य को सर्व प्रथम रखना होगा। विज्ञान और धर्म दोनों का केंद्र मनुष्य बनना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि विज्ञान पदार्थ का मोह छोड़े और धर्म परलोक का। उन दोनों का यह मोह-त्याग ही उनके सम्मिलन की भूमि बन सकेगा।

धर्म और विज्ञान का मिलन और सहयोग मनुष्य के इतिहास में सबसे बड़ी घटना हो गी। इससे बहुत सृजनात्मक ऊर्जा का जन्म होगा। वह समन्वय ही अब सुरक्षा देगा। उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं है। उनके मिलन से पहली बार मनुष्य के विज्ञ ान की उत्पत्ति होगी और विज्ञान में ही अब मनुष्य का जीवन और भविष्य है।

विचार के जन्म के लिए :●●●●●●विचारों से मुक्ति

विचार-शक्ति के संबंध में आप जानना चाहते हैं? निश्चय ही विचार से बड़ी और कोई शक्ति नहीं। विचार व्यक्तित्व का प्राण है। उसके केंद्र पर ही जीवन का प्रवाह घूमता है। मनुष्य में वही सब प्रकट होता है, जिसके बीज वह विचार की भूमि में बोता है। विचार की सचेतना ही मनुष्य को अन्य पशुओं से पृथक् भी करती है। लेि

कन यह स्मरण रहे कि विचारों से घिरे होने और विचार की शक्ति में बड़ा भेद है
—भेद ही नहीं, विरोध भी है।

विचारों से जो जितना घिरा होता है, वह विचार करने से उतना ही असमर्थ और अशक्त हो जाता है। विचारों की भीड़ चित्त को अंततः विक्षिप्त करती है। विक्षिप्तत ा विचारों की अराजक भीड़ ही तो है! शायद इसीलिए जगत् में जितने विचार बढ़ते जाते हैं, उतनी ही विक्षिप्तता भी अपनी जड़ें जमाती जाती है। विचारों का आच्छा दन विचार-शक्ति को ढांक लेता है और निष्प्राण कर देता है। विचारों का सहज स्फु रण विचारों के बोझ से निःसत्व हो जाता है। विचारों के बादल विचार-शक्ति के नि र्मल आकाश को धूमिल कर देते हैं। जैसे वर्षा में आकाश में घिर आए बादलों को ही कोई आकाश समझ ले, ऐसी ही भूल विचारों को ही विचार शक्ति समझने में ह ो जाती है।

फिर भी विचार की क्षमता और विचारों के संग्रह में ऐसी भूल सदा ही होती आई है। मनुष्य के अज्ञान की आधारभूत शिलाओं में से एक भ्रांति यह भी है। विचारों क ा संग्रह विचार-शक्ति का प्रमाण नहीं है। विपरीत विचार-शक्ति के अभाव को ही इ स भांति विचारों से भरकर पूरा कर लिया जाता है। प्रसुप्त विचारणा को बिना जगा ए ही विचार-संग्रह विचारणा के होने का भ्रम देने लगता है।

अज्ञान में ही ज्ञान की अहंपूर्ति का इससे आसान कोई मार्ग नहीं है। स्वयं में विचार की जितनी रिक्तता अनुभव होती है, उतनी ही विचारों से उसे छिपा लेने की प्रवृ त्त होती है। विचार को जगाना तो बहुत श्रमसाध्य है; किंतु विचारों को जोड़ लेना बहुत सरल है, क्योंकि विचार तो चारों ओर परिवेश में तैरते ही रहते हैं।

समुद्र के किनारे जैसे सीप, शंख इकट्ठा करने में कोई कठिनाई नहीं है, ऐसे ही संसा र-संग्रह अति सरल कार्य है। विचार-शक्ति है स्वरूप जब कि विचार हैं पराए। एक के लिए अंतर्मुखता और दूसरे के लिए बहिर्मुखता के द्वारों से यात्रा करनी होती है। इसलिए ही मैंने कहा कि दोनों यात्राएं भिन्न ही नहीं, विरोधी भी हैं। और जो उन में से एक यात्रा पर जाता है, वह इस कारण ही दूसरी यात्रा पर नहीं जा सकता है ।

विचार-संग्रह की दौड़ों में जो पड़ा है उसे जानना चाहिए कि इस भांति वह स्वयं ही स्वयं की विचार-शक्ति से दूर निकलता जाता है।

विचारों की भीड़ में व्यक्ति अंततः स्वयं अपने को और अपनी विचार-शक्ति को खो देता है।

वस्तुतः स्वयं से बाहर जो भी पाया जा सकता है, वह स्वरूप कभी नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान की खोज स्वयं से बाहर नहीं हो सकती है; क्योंकि जो ज्ञान स्वरूप नह ीं है, वह ज्ञान ही नहीं है।

अज्ञान को ढांक लेने से न तो अज्ञान मिटता है और न ही ज्ञान की उपलब्धि ही हो ती है।

अज्ञान को ढांकने की बजाय तो उसे उसकी नग्नता में जानना ही उचित और हित कर है क्योंकि तब उसकी बोध की पीड़ा ही उसके अतिक्रमण का अनुसंधान बन जा ती है।

क्या अज्ञान से भी घातक वह ज्ञान नहीं है, जिसकी ओट में अज्ञान छिप सकता है? निश्चय ही वह मित्र शत्रुओं से कहीं ज्यादा शत्रु है जो शत्रुओं को छिपाने का कार्य करता है।

वह ज्ञान शत्रु है, जो स्वयं से ही नहीं जन्मता है। ऐसा ज्ञान ही मिथ्या ज्ञान है। इस मिथ्या ज्ञान को पाने की आकांक्षा क्यों है? हम क्यों इस मृगतृष्णा में पड़ते हैं? इस मृगतृष्णा का भी कारण है। वस्तुतः अकारण तो इस जगत् में कुछ भी नहीं होता। अहंकार है कारण। अज्ञानी कोई भी नहीं दिखना चाहता है। अज्ञान के अहंकार को चोट लगती है और इसलिए ज्ञान की शीघ्र उपलब्धि की प्रतिस्पर्धा प्रारंभ होती है। ज्ञानी दिखने का सस्ता और सरल मार्ग है दूसरे के विचारों का संग्रह कर लेना। इसलिए तो लोग शास्त्रों को घोल-घोलकर पी जाते हैं और शब्दों और सिद्धांतों से स्वयं को आकंठ भर लेते हैं। तब अहंकार और पुष्ट हो जाता है और उसकी साज-सज्जा खूब बढ़ जाती है।

अहंकार तो वैसे ही घातक है, फिर ज्ञानी होने से वह और भी विषाक्त हो जाता है। कहावत है, करेला और वह भी नीम चढ़ा! तथाकथित ज्ञान अहंकार को नीम चढ़ा करेला बना देता है।

अज्ञान का बोध विनम्रता लाता है और तथाकथित ज्ञान अहंकार को राजसिंहासन पर बैठा देता है, जबकि वास्तविक ज्ञान के लिए अहंकार का विलीन होना अनिवार्य है।

अहंकार का केंद्र है संग्रह। वह संग्रह पर ही जीता है क्योंकि आत्यंतिक रूप में वह संग्रह के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। उसकी अपनी सत्ता नहीं है। उसकी सत्ता संग्रह की ही उप-उत्पत्ति है। इसलिए अहंकार संग्रह को गति देता है और असंग्रह की संभावना से ही भयभीत होता है। असंग्रह की अवस्था का अर्थ है, उसकी मृत्यु। इसलिए संग्रह होता है। और संग्रह . . . और संग्रह . . . ऐसी ही उसकी सतत पुकार बनी रहती है। और, और, और—यही उसकी अभीप्सा है। इसलिए जब तक चित्त 'और की दौड़' में होता है, तब तक स्वयं को नहीं जान पाता, दौड़ जानने के लिए अवकाश ही नहीं देता। फिर यह दौड़ धन की हो या धर्म की—पद की हो या यश की—ज्ञान की हो या त्याग की—इससे कोई भेद नहीं पड़ता है।

जहां दौड़ है वहां अहंकार है, जहां अहंकार है वहां अज्ञान है। विचार-संग्रह की दौड़ भी धन-संग्रह की दौड़ जैसी ही है। धन-संग्रह, स्थूल धन-संग्रह है तो विचार-संग्रह, सूक्ष्म धन-संग्रह। और ध्यान रहे कि सभी संग्रह आंतरिक दरिद्रता के द्योतक होते हैं। भीतर की दरिद्रता का अनुभव ही बाहर के धन की तलाश में ले जाता है और यहीं मूल भूल शुरू हो जाती है। पहला ही चरण गलत दिशा में पड़ जाए तो गंतव्य के ठीक होने का तो सवाल ही नहीं उठता। दरिद्रता भीतर है और धन की खोज

बाहर! यह विसंगति ही सारे जीवन को—रेत से तेल निकालने के अर्थहीन श्रम में न ष्ट कर देती है। फिर यह हो भी सकता है कि रेत से तेल निकल आए लेकिन बाह्य समृद्धि आंतरिक दरिद्रता को कभी भी नष्ट नहीं कर सकती। उन दोनों में कोई सं बंध ही नहीं। दरिद्रता भीतर है, तो ऐसी समृद्धि को खोजना होगा जो स्वयं भी भी तर की ही हो।

अज्ञान आंतरिक है, तो आंतरिक रूप से आविर्भूत ज्ञान ही उसकी समाप्ति बन सक ता है। मैं जो कह रहा हूं, क्या वह 'दो और दो चार' की भांति ही सुस्पष्ट नहीं है ? धन चाहते हैं या धनी दिखना चाहते हैं? ज्ञान चाहते हैं या कि अज्ञानी नहीं दी खना चाहते? सब भांति संग्रह दूसरों को धोखा देने के उपाय हैं। लेकिन इस भांति स्वयं को धोखा नहीं दिया जा सकता है। यह सत्य दिखते ही दृष्टि में एक आमूल प रिवर्तन शुरू हो जाता है।

अज्ञान सत्य है तो उससे भागे नहीं। पलायन से क्या होगा? शास्त्रों, शब्दों और सि द्धांतों में शरण लेने से क्या होगा? विचारों के धुएं में स्वयं को छिपा लेने से क्या ह ोगा? उससे तो और घुटन होगी और घबराहट होगी। वह उपचार नहीं, उपचार के नाम पर और बड़े रोगों को निमंत्रण दे आना है।

अनेक बार ऐसा होता है कि वैद्य बीमारी से भी ज्यादा घातक सिद्ध होते हैं और अ ौषधियां नए रोगों की उत्पत्ति की श्रृंखला बन जाती हैं।

ज्ञान की खोज के नाम पर विचारों के संग्रह में पड़ जाना ऐसी ही औषधि के शिका र होना है। अज्ञान से मुक्ति के लिए शास्त्रों से बंध जाना, स्वतंत्रता के नाम पर औ र भी गहरी परतंत्रता में पड़ जाना है। सत्य शब्दों में नहीं, स्वयं में है, और उसे पा ने के लिए किसी तंत्र से बंधना नहीं, वरन सर्वतंत्रों से मुक्त होना है।

स्वतंत्रता में —पूर्ण स्वतंत्रता में ही सत्य का साक्षात है।

संग्रह परतंत्रता है। संग्रह का अर्थ ही है—स्वयं पर अविश्वास और जो स्वयं नहीं हैं उस पर विश्वास! पर-श्रद्धा ही परतंत्रता लाती है। पर-श्रद्धा से जो मुक्त होता है, वह स्वतंत्र हो जाता है।

शास्त्र में, शास्ता में, शासन में श्रद्धा परतंत्रता है।

शब्द में, सिद्धांत में, संप्रदाय में श्रद्धा परतंत्रता है।

इसलिए ही मैं कहता हूं—पर में-श्रद्धा करना परतंत्रता है। और स्व-श्रद्धा है—स्वतंत्रत ा। स्वतंत्रता सत्य में ले जाती है।

विचार की शक्ति को जगाना हो तो विचारों से—उधार और पराए विचार से स्वतंत्र होना होगा, फिर वे विचार चाहे किसी के भी हों। उनका पराया होना ही, उनसे मुक्त होने के लिए पर्याप्त कारण है।

यह उचित है कि मैं जानूं कि मैं अज्ञानी हूं और अज्ञान को शीघ्रता से भूलने का को ई भी उपाय न करूं। भूलने की दृष्टि ही तो आत्मवंचक है। संपत्ति हो या सत्ता या तथाकथित ज्ञान, सभी में स्वयं की दरिद्रता, दीनता और अंधकारपूर्ण रिक्तता को भू लने की ही तो साधना चलती है। स्वयं की वस्तुस्थिति के विस्मरण के लिए हम सब

कैसे बेचैन रहते हैं? आत्महीनता से जो भरे हैं, वे पद, अधिकार और शक्ति के ि
लए पागल रहते हैं।
क्या आपको ज्ञात नहीं कि महत्त्वाकांक्षा आत्महीनता की ही पुत्री है? आत्मदरिद्र हैं
वे जो स्वर्णमुद्राओं के ढेर इकट्ठे करने में अपने स्वर्ण-जैसे जीवन को मिट्टी के मोल
खो देते हैं। अपंग डोलियों पर पहाड़ चढ़कर दिखाना चाहते हैं कि वे अपंग नहीं हैं!
विद्युत् गति से दौड़ते यानों में बैठकर विश्वास कर लेना चाहते हैं कि वे लूले-लंगड़े
नहीं हैं! और लूले-लंगड़े . . . तैमूर ही लंगड़ा नहीं था, सभी तैमूर लंगड़े हैं! एले
क्जेंडर, हिटलर और शेष सभी विक्षिप्तचित्त व्यक्ति इसी नियम की साकार प्रतिमाएं
हैं।
जो मृत्यु से जितना भयभीत होता है, वह उतना ही हिंसक हो जाता है, दूसरों को
मारकर वह विश्वास कर लेना चाहता है कि मैं मृत्यु के ऊपर हूं। शोषण है, युद्ध है
क्योंकि विक्षिप्तचित्त व्यक्ति स्वयं से पलायन करने में संलग्न हैं।
जीवन नाटकीय हो गया है, और समाज मृत, सड़ा हुआ, दुर्गंध देता शरीर हो गया
है, क्योंकि हम चित्त की बहुत-सी विक्षिप्तताओं को पहचानने में समर्थ नहीं हो पा
रहे हैं। सत्ता की, संग्रह की, शक्ति की सभी दौड़ें पागलपन की अवस्थाएं हैं। ये चि
त्त की बहुत संघात्मक रुग्णताएं हैं।
जो व्यक्ति इन दौड़ों में हैं, वे बीमार हैं और जहां उनकी बीमारी है, ठीक उसकी
विपरीत दिशा में वे अपनी बीमारी से बचने को भागे जा रहे हैं, बिना सोचे कि बी
मारी बाहर नहीं है कि उससे भागा जा सके! वह भीतर है। इसलिए उससे कितना
ही भागा जाए वह सदा ही साथ है। यह बोध दौड़ने की गति को तेज कर देता है।
बीमारी साथ है तो और तेजी से भागो। अंततः भागना एक पागलपन हो जाता है।
और स्वाभाविक ही है, क्योंकि स्वयं से भागना संभव ही नहीं । असंभव को करने के
प्रयास से ही पागलपन पैदा हो जाता है। फिर इस अशांति और अति तनाव को भू
लने के लिए नशे चाहिए। शरीर के नशे चाहिए और मन के नशे चाहिए—सेक्स और
शराब; भजन और कीर्तन; प्रार्थना और पूजा! स्वयं को भूलने के लिए धन की, पद
की, ज्ञान की दौड़ है।
अब दौड़ को भूलने के लिए कोई और भी गहरी मादकता आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति
धर्म के निकट भी आत्म-विस्मरण के लिए आते हैं। धर्म भी उन्हें एक मादक द्रव्य
से ज्यादा नहीं है। तथाकथित समृद्ध देशों में धर्म के प्रति बढ़ती उत्सुकता का कोई
और कारण नहीं है। धन की दौड़ तोड़ने लगती है तो धर्म की दौड़ शुरू हो जाती है
। लेकिन दौड़ जारी रहती है, जबकि प्रश्न दौड़ को बदलने का नहीं, ठहरने का है
और स्वयं से पलायन को छोड़ने का है।
विचारक विचारों के सहारे स्वयं से भागे रहते हैं। कलाकार कला के सहारे; राजनीि
तज्ञ सत्ता के सहारे; धनिक धन के सहारे; त्यागी त्याग के सहारे; भक्त भगवान के
सहारे। लेकिन जीवन-सत्य को केवल वही जान पाता है, जो स्वयं से भागता नहीं

है। पलायन अस्वास्थ्य है। स्वयं से भागना अस्वास्थ्य है। स्वयं में ठहर जाना स्वस्थ होना है।

मैं जो कह रहा हूं, उस पर विचार करें। क्या संग्रह की विक्षिप्तता, किसी भी भांति के संग्रह का पलायन स्वयं से पलायन नहीं है?

विचार का संग्रह स्वयं के अज्ञान से आंखें मूंदने की विधि है। इसलिए मैं विचार-शकित के तो पक्ष में हूं लेकिन विचारों के पक्ष में नहीं हूं।

क्या धनाढ्य होने से दरिद्रता मिटती है? तो फिर विचारों से अज्ञान कैसे मिट सकता है? न तो धन व्यक्तित्व के केंद्र को स्पर्श करता है और न विचार ही। संपत्ति –किसी भी भांति की संपत्ति आत्मा को नहीं छू पाती है। वह बाहर और बाहर ही हो सकती है। लेकिन उससे भ्रम पैदा हो जाता है।

कल संध्या ही एक भिखारी मुझे मिला। वह बोला–'मैं भिखारी हूं।' उसकी आंखों में दीनता थी, वाणी में दीनता थी। लेकिन उसकी बात सुनकर मुझे हंसी आ गई और मैंने उससे कहा–'पागल! क्या कहता है कि तू दरिद्र है, भिखारी है? तेरे पास धन नहीं है, क्या इतना ही दरिद्र होने के लिए काफी है? मैं तो उन्हें भी भलीभांति जानता हूं जिनके पास बहुत धन है, लेकिन वे भी दरिद्र हैं! धन से ही तू स्वयं को दरिद्र समझता हो तो भूल है। रही दूसरी और गहरी दरिद्रता की बात सो सभी दरिद्र हैं और भिखमंगे हैं।'

सत्य को–स्वयं के आत्यंतिक सत्य को जिसने नहीं जाना है, वह दरिद्र है।

ज्ञान से–स्वयं में अंतर्निहित ज्ञान से जो अपरिचित है, वह अज्ञान में है।

और स्मरण रहे कि वस्त्रों से–समृद्ध वस्त्रों से कोई समृद्ध नहीं होता और न ही विचारों से–उधार और पराए विचारों से कोई ज्ञान को उपलब्ध होता है?

वस्त्र दीनता को ढांक लेते हैं और विचार अज्ञान को। लेकिन जिनके पास गहरी देखनेवाली आंखें हैं, उनके समक्ष वस्त्र दीनता के प्रदर्शन बन जाते हैं, और विचार अज्ञान के।

आप स्वयं ही देखिए। मैं कहता हूं, इसलिए मत मान लेना। स्वयं ही सोचो, जागो और देखो। क्या हम वस्त्रों के मोह में स्वयं को ही नहीं खो रहे हैं? और कथा विचारों के मोह में सत्य से वंचित नहीं हो गए हैं?

और क्या स्वयं को खोकर कुछ भी पाने-योग्य है?

मैं एक महाराजा का अतिथि था। उनसे मैंने कहा–'क्या आपको भी राजा होने का भ्रम है?' वे चकित हुए और बोले–'भ्रम? मैं राजा हूं!' कितनी दृढ़ता से उन्होंने यह कहा था और मुझे कितनी दया उन पर आई थी!

पंडितों से मिलता हूं, उन्हें भी ज्ञानी होने के भ्रम में पाता हूं। साधुओं से मिलता हूं, उन्हें भी त्यागी होने के भ्रम में पाता हूं।

विचारों के कारण ज्ञान का आभास होने लगता है–समृद्धि के कारण सम्राट होने का, धन को छोड़ने के कारण त्यागी होने का। धन से कोई धनी नहीं है तो धन छोड़ने से कोई त्यागी कैसे होगा? वह तो धनी होने की भ्रांति का ही विस्तार है।

संग्रह में सत्य नहीं है और न ही संग्रह के छोड़ देने में । सत्य तो उसके प्रति जागने
में है, जो संग्रह और त्याग, परिग्रह और अपरिग्रह –दोनों के पीछे बैठा हुआ है।
विचारों के संग्रह में ज्ञान नहीं है और न मात्र विचारों के न होने में ही ज्ञान है। ज्ञा
न तो वहां है, जहां वह है, जो विचारों का भी साक्षी है और विचारों के अभाव का
भी।

विचार-संग्रह ज्ञान नहीं, स्मृति है। लेकिन स्मृति के प्रशिक्षण को ही ज्ञान समझा जात
ा है। विचार स्मृति के कोष में संगृहीत होते जाते हैं। बाहर से प्रश्नों का संवेदन पा
कर वे उत्तेजित हो उत्तर बन जाते हैं और इसे ही हम विचार करना समझ लेते हैं,
जबकि विचार का स्मृति से क्या संबंध? स्मृति है अतीत–बीते हुए अनुभवों का मृ
त संग्रह। उसमें जीवित समस्या का समाधान कहां? जीवन की समस्याएं हैं नित नूत
न, और स्मृति से घिरे चित्त के समाधान हैं सदा अतीत।

इसलिए ही जीवन उलझन बन जाता है, क्योंकि पुराने समाधान नई समस्याओं को
हल करने में नितांत असमर्थ होते हैं। चित्त चिंताओं का आवास बन जाता है, क्योंि
क समस्याएं एक ओर इकट्ठी होती जाती हैं, और समाधान दूसरी ओर। और उनमें
न कोई संगति होती है और न कोई संबंध। ऐसा चित्त बूढ़ा हो जाता है और जीवन
से उसका संस्पर्श शिथिल। स्वाभाविक ही है कि शरीर के बूढ़े होने के पहले ही लो
ग अपने को बूढ़ा पाते हैं और मरने के पहले ही मृत हो जाते हैं।

सत्य की खोज के लिए, जीवन के रहस्य के साक्षात के लिए युवा मन चाहिए–ऐसा
मन जो कभी बूढ़ा न हो। अतीत से बंधते ही मन अपनी स्फूर्ति, ताजगी और विचा
र-शक्ति, सभी कुछ खो देता है। फिर वह मृत में ही जीने लगता है और जीवन के
प्रति उसके द्वार बंद हो जाते हैं। चित्त स्मृति से–स्मृति रूपी तथाकथित ज्ञान से न
बंधे, तभी उसमें निर्मलता और निष्पक्ष विचारणा की संभावना वास्तविक बनती है।
स्मृति से देखने का अर्थ है : अतीत के माध्यम से वर्तमान को देखना। वर्तमान को
ऐसे कैसे देखा जा सकता है? सम्यक रूप से देखने के लिए तो आंखें सब भांति खा
ली होनी चाहिए। स्मृति से मुक्त होते ही चित्त को सम्यक् दर्शन की क्षमता उपलब्ध
होती है और सम्यक दर्शन सम्यक ज्ञान में ले जाता है। दृष्टि निर्मल हो, निष्पक्ष हो
तो स्वयं में प्रसुप्त ज्ञान की शक्ति जाग्रत होने लगती है। स्मृति के भार से मुक्त ह
ोते ही दृष्टि अतीत से मुक्त हो, वर्तमान में गति करने लगती है, और मृत से मुक्त
होकर वह जीवन में प्रवेश पा जाती है।

ज्ञान के लिए ज्ञान का भंडार बनाना आवश्यक नहीं। वैसा दुर्व्यवहार अपने साथ कभ
ी मत करना। भूल से स्मृति को कभी ज्ञान मत मानना। स्मृति तो एक यांत्रिक प्रक्रि
या है। वह विचार के लिए आच्छादन है। अब तो विचारों को स्मरण रखनेवाले यंत्र
बन गए हैं। उनके आविष्कार ने स्मृति की यांत्रिकता को भली-भांति सिद्ध कर दिया
है। फिर आपसे तो भूल-चूक भी होती है, इन यंत्रों से भूल-चूक भी नहीं होती। अ
सल में भूल-चूक के लिए वहां गुंजाइश ही नहीं। भूल-चूक के लिए भी कुछ अयांत्रि

कता आवश्यक है। ज्ञान का भोजन देते ही वे यंत्र तत्संबंध में सारे उत्तर देने में ज्यादा कुशल और भरोसे के योग्य हो जाते हैं।

क्या उन यंत्रों की भांति ही हम भी अपनी स्मृति को भोजन नहीं देते रहते हैं? और फिर जो हमारे उत्तर हैं, क्या वे भी इस भोजन की ही प्रतिध्वनियां नहीं हैं? गीता, कुरान, बाईबिल—क्या सभी को हम अपना भोजन नहीं बनाए हुए हैं? महावीर, बुद्ध, मुहम्मद से लेकर सुबह-सुबह आनेवाले दैनिक अखबार तक क्या हमारी स्मृति इसी भोजन के लिए उत्सुक नहीं रहती है? क्या कभी आपने इस तथ्य के प्रति आंखें खोली हैं कि इस स्मृति से केवल वही आ सकता है जो उसमें डाला गया हो?

इसलिए कहता हूं कि स्मृति विचार नहीं है। और जो उसे ही विचार समझ लेते हैं वे बड़ी जड़ता में पड़ जाते हैं। स्मृति की अपनी उपयोगिताएं हैं। उसे नष्ट करने को मैं नहीं कहता हूं। कहता हूं, यह समझने को कि उसे ही विचार नहीं समझना है। विचार उससे बहुत ही भिन्न आयाम है।

विचार है सदा मौलिक। स्मृति है सदा यांत्रिक। स्मृतिजन्य विचार पुनरुक्ति मात्र है। वह न मौलिक होता है, न जीवंत होता है।

ज्ञान स्मृति से भिन्न है, क्योंकि वह यांत्रिक प्रक्रिया नहीं, सचेतन बोध है। ज्ञान स्मृति नहीं है। इसलिए, ऐसे यंत्र कभी विकसित नहीं हो सकते हैं, जिनमें ज्ञान हो। जो कार्य यांत्रिक है, केवल उसे ही यंत्रों से कराया जा सकता है, और जो यांत्रिक है, उसे ही विचार मान लेने से मनुष्य एक यंत्र-मात्र ही रह जाता है। स्मृति को ही विचार मान लेना, मनुष्य की यांत्रिकता को घोषित करना है।

प्रज्ञा तो यांत्रिक नहीं है किंतु पांडित्य सदा यांत्रिक रहा है। इसलिए तथाकथित पंडितों के मस्तिष्क से ज्यादा जड़ और विचारहीन मस्तिष्क खोजना कठिन है। समस्या के पूर्व ही उनके समाधान तैयार रहते हैं। प्रश्न के पूर्व ही उनके उत्तर तय हैं। उन्हें सोचना नहीं, मात्र दोहराना है।

ऐसे ही जड़ मस्तिष्क सदा से शास्त्रों को दोहराते रहे हैं और शास्त्रों के नाम लड़ते-मरते भी रहे हैं। इन दोहरानेवाले मस्तिष्क को विचार विद्रोह प्रतीत होता है। उनका आग्रह विचार के विरोध में सदैव विश्वास के लिए रहा है।

मस्तिष्क की यांत्रिकता से विचार का तो मेल नहीं बैठता, लेकिन विश्वास से उसकी पटरी खूब बैठ जाती है। अंधे का अंधे से मिलन सुखद हो तो कोई आश्चर्य नहीं। न स्मृति के पास आंखें हैं, न विश्वास के पास, इसलिए स्मृति-निर्भर विचारणा विश्वास का सहारा मांगती है, और विश्वास स्मृति-निर्भर पुनरुक्ति से परिपुष्ट होता है।

आज की बात है। सुबह-सुबह ही ऐसे एक ज्ञानी ने दर्शन दिए। गीता उन्हें कंठस्थ है। चालीस वर्षों से गीता का पाठ करते हैं। अब सेवा से निवृत्त हुए हैं तो अहर्निश गीता का पारायण चल रहा है। उनकी बात-बात में गीता आ जाती है। चित्त को उसके शब्दों से खुद भर लिया है। प्रसंग हो या नहीं, उन शब्दों को दोहराते रहते हैं। बहुत अशांत हैं। कलहप्रिय हैं। जहां बैठते हैं वहीं विवाद कर बैठते हैं। लोग उनके ज्ञान से भय खाते हैं । उनके उपदेशों से बचते हैं। उनके हाथों में पड़ जाते हैं तो ि

नकल जाते हैं। उन्हें कृष्ण के वचन समझ में आते हैं, लेकिन लोगों का उनके ज्ञान के प्रति जो भय है, वह दिखाई नहीं देता। स्वयं की अशांति के कारण भी दिखाई न हीं देते।

यद्यपि जगत् में कैसे शांति होगी, इसके लिए रामबाण नुस्खे वे उंगलियों पर बता दे ते हैं। यह है शास्त्रों को, पराए विचारों को दोहराने वाले चित्त की जड़ता। ऐसे स्व यं की तो कोई समस्या हल नहीं होती है, और फिर जब अशांतचित्त व्यक्ति शास्त्रों को पकड़ लेते हैं तो शास्त्र भी संघर्ष, संगठन और हिंसा के कारण बन जाते हैं। क्या यह संभव है कि बुद्ध और क्राइस्ट, महावीर और जरथुस्त्र के शब्द मनुष्य को मनुष्य से तोड़नेवाले बनें? क्या वे हिंसा और वैमनस्य के आधार हो सकते हैं? लेकि न चित्त की जड़ता उन्हें भी शोषण और संघर्ष, हिंसा और युद्ध में परिणत कर लेती है। धर्मों का इतिहास मनुष्य के मन की जड़ता के अतिरिक्त और किस बात की गवाही देता है?

शास्त्रीय मस्तिष्क को मैं जड़ मस्तिष्क कह रहा हूं!—क्यों? क्योंकि जीवन की समस्या एं नित्य बदल जाती हैं, लेकिन उसके समाधान नहीं बदलते। दुनिया मार्क्स पर आ जाए तो वह मनु पर ही बैठा रहता है। फिर दुनिया मार्क्स से आगे निकल जाती है लेकिन वह मार्क्स को ही पकड़कर बैठ जाता है। बाईबिल छोड़ता है तो कैपिटल प कड़ लेता है, लेकिन बिना शास्त्र को पकड़े उसकी गति नहीं।

जीवन को समझना उसे मूल्यवान नहीं मालूम होता। उसे तो सिद्धांतों और शब्दों से प्रेम होता है। यह भी इसलिए कि जीवन को समझने के लिए विचार चाहिए, जबकि क शास्त्र को पकड़ने में विचार की कोई आवश्यकता नहीं। स्मृति को किसी भी चीज से भर लेना बड़ी सरल बात है किंतु वह प्रौढ़ बुद्धि का लक्षण नहीं।

प्रौढ़ता का लक्षण है—विचार, समस्याओं को देखने की क्षमता। शास्त्रीय बुद्धि को स मस्याएं दिखाई ही नहीं देतीं। समस्याएं तो उन खूंटियों की भांति होती हैं, जिन पर अपने बंधे-बंधाए, रटे-रटाए सिद्धांतों को टांगने में उसे मजा आता है।

शास्त्रीय बुद्धि समस्या के अनुकूल समाधान नहीं, वरन अपने पूर्व निर्धारित समाधान के अनुकूल ही समस्या को देखती है और यह न देखने से भी बदतर है। क्योंकि इस भांति थोपे गए समाधान पुरानी समस्याओं को तो मिटाते नहीं, उल्टे और नई समस याएं खड़ी कर देते हैं।

अप्रौढ़ दृष्टि उस पागल दर्जी की ही भांति होती है, जो बने-बनाए कपड़े को खींचता है और जब वे किसी शरीर पर ठीक नहीं आते हैं तो उससे कहता है कि निश्चय ही आपके शरीर में ही कहीं कोई भूल है। पागल दर्जी के कपड़ों में कोई भूल कैसे हो सकती है? पंडितों के शास्त्रों में भी कोई भूल कैसे हो सकती है? भूल है तो ज रूर जीवन में है, शास्त्रों में नहीं! बदलाहट करनी है तो जीवन में करनी है।

इस जड़तापूर्ण चित्त-दशा के कारण जीवन व्यर्थ ही उलझता गया है। हजारों साल के शास्त्रों और परंपराओं के बोझ के कारण हम कुछ भी हल करने में क्रमशः असमर्थ होते गए हैं। परंपराओं ने—मृत परंपराओं ने हमारे मन को सब ओर घेरकर बिल्कु

ल ही पंगु कर दिया है। किसी भी समस्या का जीवंत हल खोजना तो दूर, उस समस्या को उसके मूल और नग्न रूप में देखना ही करीब-करीब असंभव हो गया है। जीवन उलझता जाता है और हम तोतों की भांति रटे हुए सूत्र दोहराते जा रहे हैं। क्या उचित नहीं है कि मनुष्य का मन मुर्दा समाधानों से मुक्त हो? क्या उचित नहीं है कि हम सदा अतीत की ओर देखने की दृष्टि से सावधान हों? और क्या उचित नहीं है कि हम स्मृति से ऊपर उठकर विचार की शक्ति को जगाएं?

विचार-शक्ति के जागरण के लिए विचारों का भार कम से कम होना आवश्यक है। स्मृति बोझ नहीं होनी चाहिए। जीवन जो समस्याएं खड़ी करे, उन्हें स्मृति के माध्यम से नहीं, सीधे और वर्तमान में देखना चाहिए। शास्त्रों में देखने की वृत्ति छोड़नी चाहिए। जीवन और स्वयं के बीच शास्त्रों को लाना अनावश्यक ही नहीं, घातक भी है। स्वयं का संपर्क समस्या से जितना सीधा होता है, उतना ही ज्यादा हम उस समस्या को समझने लगते हैं।

समस्या के समाधान के लिए समस्या को उसकी समग्रता में जानना और जीना पड़ता है। फिर चाहे वह समस्या किसी भी तल पर क्यों न हो? उसके विरोध में कोई सिद्धांत खड़ा कर कभी भी कोई सुलझाव नहीं लाया जा सकता, बल्कि व्यक्ति और भी द्वंद्व में पड़ता है। वस्तुतः समस्या में ही समाधान भी छिपा होता है। यदि हम शांत और निष्पक्ष मन से समस्या में खोजेंगे तो अवश्य ही उसे पा सकते हैं।

विचार-शक्ति पराए विचारों से मुक्त होते ही जागने लगती है। जब तक पराए विचारों से काम चलाने की वृत्ति होती है तब तक स्वयं की शक्ति के जागरण का कोई हेतु ही नहीं होता। विचारों की बैसाखियां छोड़ते ही स्वयं के पैरों से चलने के अतिरिक्त और कोई विकल्प न होने से मृत पड़े पैरों में अनायास ही रक्त-संचार होने लगता है। फिर चलने से ही चलना आता है।

विचारों से मुक्त हों और देखें। क्या देखेंगे? देखेंगे कि स्वयं की अंतःसत्ता से कोई नई ही शक्ति जाग रही है। किसी अभिनव और अपरिचित ऊर्जा का आविर्भाव हो रहा है। जैसे चक्षुहीन को अनायास ही चक्षु मिल गए हों, ऐसा ही लगेगा, या जैसे अंधेरे गृह में अचानक ही दीया जल गया हो, ऐसा लगेगा। विचार की शक्ति जागती है तो अंतर्हृदय आलोक से भर जाता है। विचार-शक्ति का उद्‌भव होता है, तो जीवन में आंखें मिल जाती हैं। और जहां आलोक है, वहां आनंद है और जहां आंख है, वहां मार्ग निष्कंटक है। जो जीवन अविचार में दुःख हो जाता है वही जीवन विचार के आलोक में संगीत बन जाता है।

जीएं और जानें

मैं मनुष्य को जड़ता में डूबा हुआ देखता हूं। उसका जीवन बिल्कुल यांत्रिक बन गया है। गुरजिएफ ने ठीक ही उसके लिए मानव-यंत्र का प्रयोग किया है। हम जो भी कर रहे हैं, वह कर नहीं रहे हैं, हमसे हो रहा है। हमारे कर्म सचेतन और सजग नहीं हैं। वे कर्म न होकर केवल प्रतिक्रियाएं हैं।

मनुष्य से प्रेम होता है, क्रोध होता है, वासनाएं प्रवाहित होती हैं। पर ये सब उसके कर्म नहीं हैं, अचेतन और यांत्रिक प्रवाह हैं। वह इन्हें करता नहीं है, ये उससे होते हैं। वह इनका कर्ता नहीं है, वरन उसके द्वारा किया जाना है।

इस स्थिति में मनुष्य केवल एक अवसर है, जिसके द्वारा प्रकृति अपने कार्य करती है। वह केवल एक उपकरणमात्र है। उसकी अपनी कोई सत्ता, अपना कोई होना नहीं है। वह सचेतन जीवन नहीं, केवल अचेतन यांत्रिकता है।

यह यांत्रिक जीवन मृत्यु-तुल्य है।

जड़ता और यांत्रिकता से ऊपर उठने से ही वास्तविक जीवन प्रारंभ होता है।

एक युवक कल मिलने आए थे। वे पूछते थे कि जीवन का किस दिशा में उपयोग करूं कि बाद में पछताना न पड़े। मैंने कहा—'जीवन का एक ही उपयोग है कि वास्तविक जीवन प्राप्त हो। अभी आप जिसे जीवन जान रहे हैं, वह जीवन नहीं है।'

जिसे अभी जीवन मिला नहीं, उसके सामने उपयोग का प्रश्न ही नहीं उठता। सत्य-जीवन की उपलब्धि न होना ही जीवन का दुरुपयोग है। उसकी उपलब्धि ही सदुपयोग है। उसका अभाव ही पछताना है। उसका होना ही आनंद है।

जो स्वयं ही अस्तित्व में न हो, वह कर भी क्या सकता है? जिसकी सत्ता अभी प्रसुप्त है, उससे हो भी क्या सकता है?

जो सोया हुआ है, उसमें एकता नहीं, अनेकता है। महावीर ने कहा है—'यह मनुष्य बहुचित्तवान है।' सच ही हममें एक व्यक्ति नहीं, अनेक व्यक्तियों का आवास है। हम व्यक्ति नहीं, एक भीड़ हैं। और, भीड़ तो कुछ भी निश्चय नहीं कर सकती। क्योंकि वह निर्णय और संकल्प नहीं कर सकती।

इसके पूर्व हम कुछ कर सकें, हमारी सत्ता का जागरण, हमारी आत्मा, हमारे व्यक्ति का होश में आना आवश्यक है। व्यक्तियों की अराजक भीड़ की जगह व्यक्ति हो, बहुचित्तता की जगह चैतन्य हो, तो हममें प्रतिकर्म की जगह कर्म का जन्म हो सकता है। जुंग ने इसे ही व्यक्ति-केंद्र उपलब्धि कहा है।

सजग व्यक्ति के अभाव में जीवन के समस्त प्रयास व्यर्थ हो जाते हैं, क्योंकि न तो उनमें एकसूत्रता होती है और न एक दिशा होती है, उल्टे वे स्व-विरोधी होते हैं। जो एक निर्मित करता है, उसे दूसरा नष्ट कर देता है। वह स्थिति ऐसी है जैसे किसी ने एक ही बैलगाड़ी में चारों ओर बैल जोत लिए हों और चालक सोया है, फिर भी कहीं पहुंचने की आशा करता है।

मनुष्य का साधारण जीवन ऐसा ही है। उसमें लगता है कि गति हो रही है, लेकिन कोई गति नहीं होती। सब प्रयास निद्रित हैं और इसलिए शक्ति के अपव्यय से अधिक कुछ नहीं है। मनुष्य कहीं पहुंच तो नहीं पाता पर केवल शक्ति-रिक्त होता जाता है, और जिसे जीवन समझा था वह केवल एक क्रमिक और धीमा आत्मघात सिद्ध होता है।

जिस दिन जन्म होता है, उस दिन ही मृत्यु प्रारंभ हो जाती है। वह आकस्मिक नहीं आती है। वह जन्म का ही विकास है। जो वास्तविक जीवन की प्राप्ति में नहीं लगे

हैं, उन्हें जानना चाहिए कि वे केवल मर रहे हैं। जिन्होंने सत्य-जीवन की ओर अप ने को गतिवान नहीं किया है, मृत्यु के अतिरिक्त उनका भविष्य और क्या हो सकत ा है! जीवन के दो अंत हो सकते हैं : जीवन या मृत्यु। या तो हम और वृहत्तर तथ ा विराट जीवन में पहुंच सकते हैं या समाप्त हो सकते हैं।

समरण रहे कि जो अंत हो सकता है, वह आरंभ से ही मौजूद होता है। आरंभ में जो नहीं है, वह अंत में भी नहीं हो सकता। अंत प्रकट होकर वही है, जो कि प्रकट होकर आरंभ था।

और, तब यदि जीवन के दो अंत हो सकते हैं, तो उसमें निश्चय ही प्रारंभ से ही दो दिशाएं और संभावनाएं वर्तमान होनी चाहिए। उसमें जीवन और मृत्यु दोनों सन्निहि त हैं। जड़ता मृत्यु का बीज है, चैतन्य जीवन का। मनुष्य इनका द्वैत है।

मनुष्य, जीवन और मृत्यु का मिलन है। मनुष्य, चेतना और जड़ता का संगम है।

मनुष्य यंत्र भी है, पर उसमें कुछ ऐसा है, जो यंत्र नहीं है। उसमें अयांत्रिकता भी है। वह तत्त्व जो जड़ता और यांत्रिकता को समझ पाता है, और उसके प्रति सजग और जागरूक हो पाता है वही तत्त्व उसकी अयांत्रिकता है। इस अयांत्रिक दिशा को प कड़कर ही जीवन तक पहुंचा जाता है।

मैं जो अपने में चेतना पा रहा हूं, यह बोध पा रहा हूं कि 'मैं हूं', यह बोध-किरण ही मुझे सत्ता में ले जाने का मार्ग बन सकती है। साधारणतः यह किरण बहुत धूमि ल और अस्पष्ट है।

पर वह अवश्य है और उसका होना ही महत्त्वपूर्ण है। अंधेरे में वह धूमिल किरण ही प्रकाश तक पहुंच सकने की क्षमता की सूचना और संकेत है। उसका होना ही निक ट ही प्रकाश-स्रोत के होने का सुसमाचार है।

मैं तो एक किरण के होने से ही सूरज के होने के विश्वास से भर जाता हूं। उसे जा नकर ही क्या सूरज को नहीं जान लिया जाता?

मनुष्य में जो बोधि-किरण है वह उसके बुद्धत्व का इंगित है।

मनुष्य में जो होश का मंदा-सा आभास है, वह उसकी सबसे बड़ी संभावना है, वह उसकी सबसे बड़ी संपत्ति है। उससे बहुमूल्य उसमें कुछ भी नहीं है। उसके आधार प र चलकर वह स्वयं तक और सत्ता तक पहुंच सकता है। वह जीवन, वृहत्तर जीवन और ब्रह्म की दिशा है।

जो उन पर नहीं है, वे उसके विपरीत हैं, क्योंकि तीसरी कोई दिशा ही नहीं है। उ स पर या उसके विपरीत दो ही विकल्प हैं। अभी जो आभास है, उसे या तो विनाश की ओर ले जाया सकता है या विकास की ओर। या तो बोध से बोधि में जाया ज ा सकता है या फिर और मूर्च्छा में।

सामान्य जीवन का यांत्रिक वृत्त अपने आप संबोधि के प्रकाश-शिखरों पर नहीं ले जा ता। यह शाश्वत नियम है कि कुछ न करें तो नीचे आना अपने आप हो जाता है, लेकिन ऊपर जाना अपने आप नहीं होता। पतन न कुछ करने से ही हो जाता है, ले

किन उन्नयन नहीं होता। जड़ता अपने आप आ जाती है, जीवन अपने आप नहीं हो ता। मृत्यु बिना बुलाए आ जाती है, पर जीवन को बुलावा देना होता है।

बोध की जो किरण प्रत्येक के भीतर हैं, उसमें और उसके सहारे गति करनी है। जै से-जैसे भीतर गति होती है, वैसे-वैसे बोध के आयाम उद्घाटित होते हैं और व्यक्ति जड़ता और यांत्रिकता के पार होने लगता है।

जैसे-जैसे वह चैतन्य के प्रगाढ़ होते स्वरूप से परिचित होता है, वैसे-वैसे उसकी अने क-चित्तता विसर्जित होने लगती है और उसमें कुछ घना और एकाग्र केंद्रित होने ल गता है। इस प्रक्रिया के परिणाम से वह व्यक्ति बनता है।

शिक्षा का लक्ष्य

मैं आपकी आंखों में देखता हूं और उनमें घिरे विषाद और निराशा को देखकर मेरा हृदय रोने लगता है। मनुष्य ने स्वयं अपने साथ यह क्या कर लिया है? वह क्या होने की क्षमता लेकर पैदा होता है और क्या होकर समाप्त हो जाता है! जिसकी अं तरात्मा दिव्यता की ऊंचाइयां छूती, उसे पशुता की घाटियों में भटकते देखकर ऐसा लगता है जैसे किसी फूलों के पौधे में फूल न लगकर पत्थर लग गए हों और जैसे किसी दीये से प्रकाश की जगह अंधकार निकलता हो।

ऐसा ही हुआ है मनुष्य के साथ। इसके कारण ही हम उस सात्विक प्रफुल्लता का अ नुभव नहीं करते हैं जो हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, और हमारे प्राण तमस के भा र से भारी हो गए हैं।

मनुष्य का विषाद, वह जो हो सकता है, उस विकास के अभाव का परिणाम है।

शिक्षा मानवात्मा में जो अंतर्निहित है उसे अभिव्यक्त करने का माध्यम और उपाय है। कभी सुकरात ने कहा था--'मैं एक दाई की भांति हूं। जो तुममें अप्रकट है, मैं उ से प्रकट कर दूंगा।' यह वचन शिक्षा की भी परिभाषा है।

लेकिन मनुष्य में शुभ और अशुभ दोनों ही छिपे हैं। विष और अमृत दोनों ही उसके भीतर हैं। पशु और परमात्मा दोनों का ही उसके अंदर वास है। यही उसकी स्वतंत्र ता और मौलिक गरिमा भी है। वह अपने होने को चुनने में स्वतंत्र है।

इसलिए सम्यक् शिक्षा वह है जो उसे प्रभु होने की ओर मार्ग-दर्शन दे सके।

यह भी स्मरणीय है कि मनुष्य यदि अपने साथ कुछ भी न करे तो वह सहज ही प शु से भी पतित हो जाता है। पशु को चुनना हो तो स्वयं को जैसा जन्म से पाया है, वैसा ही छोड़ देना पर्याप्त है। उसके लिए कुछ और विशेष करने की आवश्यकता नहीं है। वह उपलब्ध सहज और सुगम है।

नीचे उतरना हमेशा ही सुगम होता है। किंतु ऊपर उठना श्रम और साधना है। वह अध्यवसाय और पुरुषार्थ है। वह संभावना, संकल्प और सतत चेष्टा से ही फलीभूत है। ऊपर उठना एक कला है। जीवन की सबसे बड़ी कला वही है।

प्रभु होने की इस कला को सिखाना शिक्षा का लक्ष्य है।

जीवन शिक्षा का लक्ष्य है, मात्र आजीविका नहीं। जीवन के ही लिए आजीविका का मूल्य है। आजीविका अपने आप में तो कोई अर्थ नहीं रखती है। पर साधन ही अज्ञानवश अनेक बार साध्य बन जाते हैं। ऐसा ही शिक्षा में भी हुआ है। आजीविका लक्ष्य बन गई है। जैसे मनुष्य जीने के लिए न खाता हो, वरन खाने के लिए ही जीता हो। आज की शिक्षा पर यदि कोई विचार करेगा तो यह निष्कर्ष अपरिहार्य है।

क्या मैं कहूं कि आज की शिक्षा की इस भूल के अतिरिक्त और कोई भूल नहीं है? लेकिन यह भूल बहुत बड़ी है। यह भूल वैसी ही है, जैसे कोई किसी मृत व्यक्ति के संवंध में कहे कि इस देह में और तो सब ठीक है, केवल प्राण नहीं है।

हमारी शिक्षा अभी ऐसा ही शरीर है, जिसमें प्राण नहीं है, क्योंकि आजीविका जीवन की देह-मात्र ही है।

शिक्षा तब सप्रमाण होगी, जब वह आजीविका ही नहीं, जीवन को भी सिखाएगी। जीवन सिखाने का अर्थ है, आत्मा को सिखाना।

मैं सब कुछ जान लूं, लेकिन यदि स्वयं की ही सत्ता से अपरिचित हूं, तो वह जानना वस्तुतः जानना नहीं है। ऐसे ज्ञान का क्या मूल्य जिसके केंद्र पर स्व-ज्ञान न हो? स्वयं में अंधेरा हो, सारे जगत् में भरे प्रकाश का भी हम क्या करेंगे?

ज्ञान का पहला चरण स्व-ज्ञान की ही दिशा में उठना चाहिए क्योंकि ज्ञान का अंतिम लक्ष्य वही है।

और व्यक्ति जिस मात्रा में स्व-ज्ञान को जानने लगता है, उसी मात्रा में उसका पशु विसर्जित होता है, और प्रभु की ओर उसके प्राण प्रभावित होते हैं। आत्मज्ञान की पूर्णता ही उसे परमात्मा में प्रतिष्ठा देती है।

और, वही प्रतिष्ठा आनंद और अमृत है। उसे पाकर ही सार्थकता और कृतार्थता है। मनुष्य उस परम विकास और पूर्णता के बीज ही अपने में लिए हुए है।

जब तक वे बीज विकास को न पा लें, तब तक एक बेचैनी और प्यास उसे पीड़ित करेगी ही। जैसे हम भूमि में कोई बीज बोते हैं, तो जब तक वे अंकुरित होकर सूर्य के प्रकाश को नहीं पा लेते हैं, तब तक उनके प्राण गहन प्रसव-पीड़ा से गुजरते हैं; वैसे ही मनुष्य भी भूमि के अंधकार में दबा हुआ एक बीज है, और जब तक वह भी प्रकाश को उपलब्ध न हो पावे, तब तक उसे भी शांति नहीं है। और यह अशांति शुभ ही है, क्योंकि इससे गुजरकर ही वह शांति के लोक में प्रवेश पाएगा।

शिक्षा को यह अशांति तीव्र करनी चाहिए, और शांति का मार्ग और विज्ञान देना चाहिए तभी वह पूर्ण होगी और एक नए मनुष्य का और नई मानवता का जन्म होगा। हमारा सारा भविष्य इसी बात पर निर्भर है। शिक्षा के हाथ में ही मनुष्य का भाग्य है। मनुष्य को यदि मनुष्य के ही हाथों बचाना है तो मनुष्य का पुनर्निर्माण अत्यंत आवश्यक है। अन्यथा मनुष्य का पशु तो मनुष्य को ही विनष्ट कर देगा। मनुष्य की प्रभु में प्रतिष्ठा ही एकमात्र बचाव है।●●ः!इ६●●

जीवन-संपदा का अधिकार

मैं क्या देखता हूं? देखता हूं कि मनुष्य सोया हुआ है। आप सोए हुए हैं। प्रत्येक मनुष्य सोया हुआ है। रात्रि ही नहीं, दिवस भी निद्रा में ही बीत रहे हैं। निद्रा तो निद्रा ही है, किंतु यह तथाकथित जागरण भी निद्रा ही है। आंखों के खुल जाने-मात्र से नींद नहीं टूटती। उसके लिए तो अंतस् का खुलना आवश्यक है। वास्तविक जागरण का द्वार अंतस् है। जिसका अंतस् सोया हो, वह जागकर भी जागा हुआ नहीं होता, और जिसका अंतस् जागता है वह सोकर भी सोता नहीं है।

जीवन जागरण में है। निद्रा तो मृत्यु का ही रूप है। जागृति का दीया ही हृदय को आलोक से भरता है। निद्रा तो अंधकार है और अंधकार में होना, दुःख में, पीड़ा में, संताप में होना है। स्वयं से पूछें कि आप कहां हैं? क्या हैं? यदि संताप में हैं, भय में हैं, दुःख और पीड़ा में हैं तो जानें कि अंधकार में हैं, जानें कि निद्रा में हैं। इसके पूर्व कि कोई जागने की दिशा में चले, यह जानना आवश्यक है कि वह निद्रा में है। जो यह नहीं जानता, वह जाग भी नहीं सकता है। क्या कारागृह से मुक्त होने की आकांक्षा के जन्म के लिए स्वयं के कारागृह में होने का बोध जरूरी नहीं है?

मैं प्रत्येक से प्रार्थना करता हूं कि वह भीतर झांके। अपने मन के कुएं में देखे, क्या वहां से आंख हटाने की वृत्ति होती है? क्या वहां से भागने का विचार आता है; निश्चय ही यदि वहां से पलायन का खयाल उठता हो तो जानना कि वहां अंधकार इकट्ठा है। आंखें अंधकार से हटना चाहती हैं और आलोक की ओर उठना चाहती हैं।

प्रतिदिन नए-नए मनुष्यों को जानने का मुझे मौका मिलता है। हजारों लोगों को अध्ययन करने का अवसर मिला है। एक बात उन सब में समान है, वह है दुःख--सभी दुःखी हैं। सभी पीड़ा में डूबे दिखाई देते हैं। एक घना संताप है, चिंता है, जिसमें वे सब जकड़े हुए हैं। इससे वे बैचेन हैं और तड़फड़ा रहे हैं। श्वास तक लेना कठिन हो रहा है। आस-पास दुःख ही दिखाई देता है। हवाओं का--जीवनदायी हवाओं का तो कोई पता ही नहीं है। क्या ऐसी ही स्थिति आपकी है? क्या आप भी अपने भीतर घबरा देने वाली घुटन का अनुभव नहीं करते हैं? क्या आपकी गर्दन को भी चिंताएं नहीं दबा रही हैं और क्या आपके रक्त में भी उनका विष प्रवेश नहीं कर गया है?

अर्थहीनता घर किए हुए है। ऊब से सब दबे हैं और टूट रहे हैं। क्या यही जीवन है? क्या आप इससे ही तृप्त और संतुष्ट हैं? यदि यही जीवन है तो फिर मृत्यु क्या होगी? मित्र, यह जीवन नहीं है। वस्तुतः यही मृत्यु है। जीवन से सब परिचित नहीं हैं। जीवन सर्वथा भिन्न अनुभव है। जानकर ही यह मैं कह रहा हूं। कभी इस तथाकथित जीवन को ही जीवन मानने की भूल मैंने भी की थी। वह भूल स्वाभाविक है। जब और किसी भांति के जीवन को व्यक्ति जानता ही नहीं, तो जो उपलब्ध होता है, उसे ही जीवन मान लेता है। यह मानना भी सचेतन नहीं होता। सचेतन होते ही तो मानना कठिन हो जाता है। वस्तुतः अविचार में ही, अबोध में ही, वैसी भूल होती है। स्वयं के प्रति थोड़ा-सा भी विचार उस भूल को तोड़ देता है। जो उपलब्ध है,

उसे स्वीकार नहीं, विचार करें। स्वीकार अचेतन है, वह अंधविश्वास है। विचार स चेतन है, उसके द्वारा ही भ्रम-भंग होना प्रारंभ होता है।

विचार विश्वास से बिल्कुल विरोधी घटना है। विश्वास. . अचेतन. . . उससे जो चल ता है वह मात्र जीता ही है, जीवन को उपलब्ध नहीं होता। जीवन को उपलब्ध कर ने के लिए विश्वास की नहीं, विचार और विवेक की दिशा पकड़नी होती है। विश्वा स यानी मानना। विचार यानी खोजना। जानने के लिए मानना घातक है। खोज के ि लए विश्वास बाधा है। जो मान लेते हैं, वे जानने की दिशा में चलते ही नहीं। चल ने को कोई कारण ही नहीं रह जाता। जानने का काम मानना ही कर देता है। इस भांति कागज के फूल ही असली फूलों का धोखा दे देते हैं और झूठे काल्पनिक पानी से ही प्यास बुझने को मान लिया जाता है।

ज्ञान के मार्ग में विश्वास की वृत्ति सबसे बड़ा अवरोध है। विचार की मुक्ति में विश्व ास की ही अड़चन है। विश्वास की जंजीरें ही स्वयं की विचार-शक्ति को जीवन की यात्रा नहीं करने देतीं और उनमें रुका व्यक्ति पानी के घिरे डबरों की भांति हो जा ता है। फिर वह सड़ता है और नष्ट होता है, लेकिन सागर की ओर दौड़ना उसे सं भव नहीं रह जाता। बंधो नहीं, स्वयं को बांधो नहीं। खोजो, खोजने में ही सत्य-जीव न की प्राप्ति है।

जीवन जैसा मिला है, उस पर विश्वास मत कर लेना—उससे संतुष्ट मत हो जाना। वह जीवन नहीं, बल्कि जीवन के विकास और अनुभव की एक संभावना-मात्र ही है। एक कहानी मैंने सुनी है। किसी वृद्ध व्यक्ति ने अपने दो पुत्रों की परीक्षा लेनी चाही । मरने के पूर्व वह अपनी संपत्ति का उत्तराधिकारी चुनना चाहता था। उसने गेहूं के कुछ बीज दोनों को दिए और कहा कि मैं अनिश्चित समय के लिए तीर्थयात्रा पर जा रहा हूं, तुम इन बीजों को संभालकर रखना। पहले पुत्र ने उन्हें जमीन में गाड़क र रख दिया। दूसरे ने उनकी खेती की और उन्हें बढ़ाया। कुछ वर्षों के बाद जब वृ द्ध लौटा तो पहले के बीज सड़कर नष्ट हो गए थे, और दूसरे ने उन्हें हजारों गुना बढ़ाकर संपदा में परिणत कर लिया था।

यही स्थिति जीवन की भी है। जो जीवन हमें मिला है, वह बीजों की भांति है। उस से ही तृप्त नहीं हो जाना है। बीज तो संभावनाएं हैं। उन्हें जो वास्तविकताओं में पि रवर्तित कर लेता है, वही उनमें छिपी संपदा का मालिक होता है।

हम सब जो हैं, वहीं नहीं रुके रहना है, वस्तुत: जो हो सकते हैं, वहां तक पहुंचना है। वहीं पहुंचना हमारा वास्तविक होना भी है। फूलों को कभी देखा है? कभी उनके आनंद को, कभी उनकी अभिव्यक्ति को विचारा है? सुबह हम फूलों की एक सुंदर बगिया में थे। जो मित्र साथ थे, उनसे मैंने कहा—'फूल सुंदर हैं। स्वस्थ हैं, और सु वास से भरे हैं क्योंकि वे जो हो सकते थे, वही हो गए हैं। उन्होंने अपनी विकास क ी पूर्णता को पा लिया है। जब तक मनुष्य भी ऐसा ही न हो जाए तब तक उसका जीवन भी सुवास से नहीं भरता है।'

समाधि योग

सत्य की खोज की दो दिशाएं हैं—एक विचार की, एक दर्शन की। विचार-मार्ग चक्रीय है। उसमें गति तो बहुत होती है, पर गंतव्य कभी भी नहीं आता । वह दिशा भ्रामक और मिथ्या है। जो उसमें पड़ते हैं, वे मतों में ही उलझकर रह जाते हैं। मत और सत्य भिन्न बातें हैं। मत बौद्धिक धारणा है, जबकि सत्य समग्र प्राणों की अनुभूति में बदल जाते हैं। तार्किक हवाओं के रुख पर उनकी स्थिति निर्भर करती है, उनमें कोई थिरता नहीं होती। सत्य परिवर्तित नहीं होता है। उसकी उपलब्धि शाश्वत और सनातन में प्रतिष्ठा देती है।

विचार का मार्ग उधार है। दूसरों के विचारों को ही उसमें निज की संपत्ति मानकर चलना होता है। उनके ही ऊहापोह और नए-नए संयोगों को मिलाकर मौलिकता की आत्मवंचना पैदा की जाती है, जबकि विचार कभी भी मौलिक नहीं हो सकते हैं। दर्शन ही मौलिक होता है, क्योंकि उसका जन्म स्वयं की अंतर्दृष्टि से होता है।

जो भी ज्ञात है, वह अज्ञात में नहीं ले जाता है। सत्य अज्ञात है तो ज्ञात विचार उस तक पहुंचने की सीढ़ियां नहीं बन सकते हैं। उनके परित्याग से ही सत्य में प्रवेश होता है। निर्विचार चैतन्य के आकाश में ही सत्य के सूर्य के दर्शन होते हैं।

मनुष्य चित्त ऐंद्रिक अनुभवों को संगृहीत कर लेता है। ये सभी अनुभव बाह्य जगत् के होते हैं, क्योंकि इंद्रियां केवल उसे ही जानने में समर्थ हैं जो बाहर है। स्वयं के भीतर जो है, वहां तक इंद्रियों की कोई पहुंच नहीं है। इन अनुभवों की सूक्ष्म तरंगें ही विचार की जन्मदात्री हैं। इसलिए विचार, विज्ञान की खोज में तो सहयोगी हो सकता है, किंतु परम सत्य के अनुसंधान में नहीं। स्वयं के आंतरिक केंद्र पर जो चेतना है, विचार के द्वारा उसे स्पर्श नहीं किया जा सकता है, क्योंकि वह तो इंद्रियों के सदा पार्श्व में ही है।

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि विचारों का आगमन बाहर से होता है। वे विजातीय तत्त्व हैं। उनसे स्वयं की सत्ता उद्‌घाटित नहीं, वरन और आच्छादित ही होती है । उनकी धुंध और धुआं जितना गहरा होता है, उतना ही स्व-सत्ता में प्रवेश कठिन और दुर्गम हो जाता है। जो स्वयं को नहीं जानता है, वह सत्य को कैसे जान सकता है? सत्य को जानने का द्वार स्वयं से होकर ही आता है, और कोई दूसरा द्वार भी नहीं है।

सत्य की बौद्धिक विचार-धारणाओं में पड़े रहना ऐसे ही है, जैसे कोई अंधा व्यक्ति प्रकाश का चिंतन करता रहे। उसका सारा चिंतन व्यर्थ ही होगा, क्योंकि प्रकाश सोचा नहीं, देखा जाता है। उसके लिए विचार नहीं, आंखों का उपचार आवश्यक है। उस दिशा में किसी विचारक की नहीं, चिकित्सक की सलाह ही उपादेय हो सकती है।

विचार चिंतन है, दर्शन चिकित्सा है। प्रश्न प्रकाश का नहीं, सदा ही आंखों का है। यहीं तत्त्व-चिंतन और योग विभिन्न दिशाओं के यात्री हो जाते हैं। तत्त्व-चिंतन अंधों

द्वारा प्रकाश का विचार और विवेचना है, जबकि योग आंखें देता है और सत्य के दर्शन की सामर्थ्य और पात्रता उत्पन्न करता है।

योग समाधि का विज्ञान है। चित्त की शून्य और पूर्ण जाग्रत अवस्था को मैं समाधि कहता हूं। विषयों की दृष्टि से चित्त जब शून्य होता है और विषयी की दृष्टि से पूर्ण जाग्रत, तब समाधि उपलब्ध होती है। समाधि सत्य के लिए चक्षु है।

हमारा चित्त साधारणत: विषयों, विचारों और उनके प्रति सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं से आच छन्न रहता है। इन अशांत लहरों की क्रमश: एक मोटी दीवार बन जाती है। यही दी वार हमें स्वयं के बाहर रखती है। सूर्य जैसे सागर पर अपनी उत्तप्त किरणें फेंककर ऐसे बादल पैदा कर लेता है, जो उसे ढांकने और आवृत्त करने में समर्थ हो जाते हैं , वैसे ही मनुष्य-चेतना भी विषयों के संसर्ग में से विचार-प्रतिक्रियाओं को उत्पन्न क र लेती है और फिर उन्हीं में भटक जाती है। अपने ही हाथों से अपनी सत्ता तक प हुंचने के द्वार बंद करने के लिए मनुष्य स्वतंत्र है।

किंतु जो अपने पैरों में अपने हाथ से बेड़ियां डालने में समर्थ होता है, वह उन्हें तोड़ ने की क्षमता भी अवश्य ही रखता है। स्वतंत्रता हमेशा दोहरी होती है। बनाने की शक्ति में मिटाने की शक्ति भी अवश्य ही अंतर्निहित होती है। इस सच्चाई को ध्यान में रखना बहुत आवश्यक है।

स्वयं को या सत्य को पाने जो चलता है, उसे विजातीय प्रभावों को दूर करने के ि लए उनकी दीवार पर दो बिंदुओं से आक्रमण करना होता है। एक को मैं जागरूकत ा के लिए आक्रमण कहता हूं, और दूसरे को शून्यता के लिए। इन दोनों की जहां पू र्णता होती है और संगम होता है, वहां समाधि फलित होती है।

जागरूकता के लिए कार्यों या विचारों में अपनी मूर्च्छा और प्रमत्तता को छोड़ना पड़ ता है। कोई भी कर्म या कोई भी विचार सोई-सी अवस्था से नहीं, परिपूर्ण सजगता से होना चाहिए। सतत ऐसी धारणा करने पर स्वयं में साक्षी का जन्म होता है। जा गरूकता के लिए निरंतर सचेत रहने और अपनी अर्धनिद्रा-सी चित्तदशा पर आघात करने से स्वभावत: ही प्रसुप्त प्रज्ञा में जागरण प्रारंभ हो जाता है, फिर धीरे-धीरे ए क बोध-चेतना सहज के साथ रहने लगती है। यहां तक कि निद्रा में भी इसका साथ नहीं छूटता है। यह पहला आक्रमण है।

दूसरा सहयोगी आक्रमण शून्यता के लिए करना होता है। यह स्मरण रखना है कि ि चत्त जितना कम स्पंदित और आंदोलित हो, उतना ही अच्छा है। ऐसे विचारों और भावों में स्वयं को पड़ने से रोकना पड़ता है, जिनका परिणाम चित्त को अशांत करत ा है। चित्त की शांति को वैसे ही संभालना पड़ता है, जैसे कोई पथिक रात्रि के अंध कार में आंधियों से अपने दीए को बचाकर चलता हो। ऐसे कर्म, ऐसे विचार या ऐ सी वाणी के प्रति सचेत होना होता है, जो चित्त की झील पर लहरें पैदा करें और जिससे विक्षोभ उत्पन्न होता हो।

दोनों आक्रमण सहयोगी आक्रमण हैं और एक के साधने से दूसरे में सहायता मिलती है। जागरूकता साधने से शून्यता आती है और शून्यता साधने से जागरूकता आती

है। उन दोनों में कौन महत्त्वपूर्ण है, यह कहना कठिन है। उनका संबंध मुर्गी-अंडे के संबंध जैसा है।

शून्यता और जागरूकता जब पूर्ण हो जाती है तो चित्त एक ऐसी क्रांति से गुजरता है जिसकी साधारणतः हमें कोई कल्पना भी नहीं हो सकती थी। उस परिवर्तन से ब. डा कोई परिवर्तन मनुष्य-जीवन में नहीं है। वह क्रांति आमूल है और उसके द्वारा सा रा ही जीवन रूपांतरित हो जाता है। अंधे को अनायास आंख मिल जाने के प्रतीक से ही उसे समझाया जा सकता है।

इस क्रांति के द्वारा व्यक्ति स्वयं में प्रतिष्ठित होता है और अनिर्वचनीय आलोक का अनुभव करता है। इस आलोक में वह अपने सच्चिदानंद स्वरूप को जानता है। मृत्यु मिट जाती है और अमृत के दर्शन होते हैं। अंधकार विलीन हो जाता है और सत्य से मिलन होता है। वास्तविक जीवन की शुरूआत इस अनुभूति के बाद ही होती है। उसके पूर्व हम मृतकों के ही समान हैं। जीवन-सत्य को जो नहीं जानता है, उसे ज ीवित कहना बहुत अधूरे अर्थों में ही सत्य होता है।

जीवन की अदृश्य जड़ें

किस संबंध में आपसे बातें करूं—जीवन के संबंध में? शायद यही उचित होगा, क्यों क जीवित होते हुए भी जीवन से हमारा संबंध नहीं है। यह तथ्य कितना विरोधाभा सी है? क्या जीवित होते हुए भी यह हो सकता है कि जीवन से हमारा संबंध न हो ? यह हो सकता है! न केवल हो ही सकता है, बल्कि ऐसा ही है। जीवित होते हुए भी, जीवन भूला हुआ है। शायद हम जीने में इतने व्यस्त हैं कि जीवन का विस्मर ण ही हो गया है।

वृक्षों को देखता हूं तो विचार आता है कि क्या उन्हें अपनी जड़ों का पता होगा? प र वृक्ष तो वृक्ष है, मनुष्य को ही अपनी जड़ों का पता नहीं। जड़ों का ही पता न हो तो जीवन से संबंध कैसे होगा? जीवन तो जड़ों में है—अदृश्य जड़ों में। दृश्य के प्रा ण अदृश्य में होते हैं। जो दिखाई पड़ता है उसका जीवन स्त्रोत उनमें होता है जो दि खाई नहीं पड़ता है। दृश्य को अदृश्य धारण किए हुए है। जब तक यह अनुभव न ह ो तब तक जीवित होते हुए भी जीवन से संबंध नहीं होता है।

जीवन से संबंधित होने के लिए जीवन मिल जाना ही पर्याप्त नहीं। वह भूमिका तो है, किंतु वही सब कुछ नहीं। उसमें संभावनाएं तो हैं, लेकिन वही पूर्णता नहीं है। उ ससे यात्रा तो शुरू हो सकती है, लेकिन उस पर ही ठहरा नहीं जा सकता है। पर ि कतने ही लोग हैं जो प्रस्थान बिंदु को ही गंतव्य मानकर रुक जाते हैं।

शायद अधिकांशतः यही होता है। बहुत कम ही व्यक्ति हैं जो प्रस्थान बिंदु में, और पहुंचने की मंजिल में भेद करते हों और उस भेद को जीते हों। कुछ लोग शायद भे द कर लेते हैं, पर उस भेद को जीते नहीं। उसका भेद, मात्र बौद्धिक होता है और स्मरण रहे कि बौद्धिक समझ कोई समझ नहीं। समझ जीवन के अस्तित्व के अनुभ

व से आए तभी परिणामकारी होता है। हृदय की गहराई से और अनुभव की तीव्रत
ा से ही वह ज्ञान आता है जो व्यक्ति को बदलता है, नया करता है।

बुद्धि तो उधार विचारों को ही अपना समझने की भ्रांति में पड़ जाती है। बुद्धि की संवेदना है ही बहुत सतही, जैसे सागर की सतह पर उठी लहरों का न तो कोई स्था यित्व होता है और न कोई दृढ़ता होती है। उनका बनना-मिटना चलता ही रहता है । सागर का अंतस्थल न तो उससे प्रभावित होता है और न ही परिवर्तित होता है। ऐसी ही स्थिति बुद्धि की भी है।

बुद्धि से नहीं, अनुभव से, अस्तित्व से तथा स्वयं की सत्ता से यह बोध आना चाहिए कि जन्म और जीवन में भेद है। चलने और पहुंचने में अंतर है। जन्म प्रारंभ है, अं त नहीं। यह दृष्टि न जगे तो जन्म को ही जीवन मान लिया जाता है। फिर जो जन्म को ही जीवन जानता और मानता है, अनिवार्यतः उसे मृत्यु को ही अंत और पूर्ण ता भी माननी पड़ती है! जन्म को जीवन मानने की भूल से ही मृत्यु को स्वयं की प रिसमाप्ति मानने की भ्रांति का भी जन्म होता है। वह पहली भूल की ही सहज निष पत्ति है। वह उसका ही विकास और निष्कर्ष है। जन्म से जो बंधे हैं, वे मृत्यु से भी भयभीत होंगे ही। मृत्यु-भय जन्म से बंधे होने की ही दूरगामी प्रतिध्वनि है।

वस्तुतः हम जिसे जीवन कहते हैं, वह जीवन कम और जीवित मृत्यु ही ज्यादा है। शरीर से ऊपर और शरीर से भिन्न जिसने स्वयं को नहीं जाना, वह कहने-मात्र को ही जीवित है। जन्म से पूर्व और मृत्यु के पश्चात् जिसे स्वयं का होना अनुभव नहीं होता, वह जीवित नहीं है। उसे जन्म के बाद और मृत्यु के पूर्व भी जीवन का अनुभ व नहीं होगा, क्योंकि जीवन का अनुभव तो अखंड और अविच्छिन्न है। ऐसे व्यक्ति ने जन्म को ही जीवन मान लिया है। सच तो यही है कि उसने अभी जन्म ही पाया है, जीवन नहीं।

जन्म बाह्य घटना है—जीवन आंतरिक। जन्म संसार है—जीवन परमात्मा। जन्म जीवन तो नहीं है लेकिन जीवन में वह गति का द्वार हो सकता है। लेकिन साधारणतः तो वह मृत्यु का ही द्वार सिद्ध होता है। उस पर ही छोड़ देने से ऐसा होता है। साधन ा जन्म को जीवन बना सकती है। मृत्यु विकसित हुआ जन्म ही है। अचेतन और मूर्च्छित जीना मृत्यु में ले जाएगा—सचेतन और अमूर्च्छित जीना जीवन में। अमूर्च्छित जीवन को ही मैं साधना कहता हूं। साधना से जीवन उपलब्ध होता है। वही धर्म है।

मैं बूढ़ों को देखता हूं और बच्चों को देखता हूं तो मुझे जन्म तथा मृत्यु की दृष्टि से तो उनमें भेद दिखाई पड़ता है लेकिन जीवन की दृष्टि से नहीं। जीवन से सभी अछूते हैं। जीवन समय की गति के बाहर है। जन्म और मृत्यु समय में घटित होते हैं— जीवन समय के बाहर। उम्र का बढ़ते जाना समय में होता है। उसे ही जीवन-वृद्धि न समझ लेना। आयुष्य और जीवन भिन्न हैं।

जीवन पाने के लिए समय के बाहर चलना होगा। समय क्या है? परिवर्तन समय है। संसार में सब कुछ अस्थिर है। वहां कुछ भी ठहरा हुआ नहीं है। देखो और खोजो तो पाओगे कि स्वयं के बाहर एक भी बिंदु, एक भी अणु स्थिर नहीं है। पर स्वयं में

कुछ है जो परिवर्तन के बाहर है। स्वयं में समय नहीं है। स्वसत्ता कालातीत है। इस
ी सत्ता में जागरण ही जीवन है।

जीवन को खोजो, अन्यथा मृत्यु आपको खोज रही है। वह प्रतिक्षण निकट आती जा
रही है। जन्म के बाद प्रतिक्षण उसकी ही विजय का क्षण है। कुछ भी आप करें—के
वल जीवन में प्रवेश छोड़कर—उसकी विजय सुनिश्चित है। संपत्ति, शक्ति या यश—स
भी उसके समक्ष निर्जीव छायाओं की भांति हैं। उसकी मौजूदगी में वे सब व्यर्थ हो
जाते हैं। स्वयं की सत्ता—स्व-अस्तित्व की अनुभूति ही केवल अमृत है। वही और केव
ल वही मृत्यु के बाहर है, क्योंकि समय के बाहर है।

समय में जो कुछ भी है, सभी मरणधर्मा है। समय मृत्यु की गति है, उसके ही चर
णों का वह माप है। समय में दौड़ना मृत्यु में दौड़ना है और सभी वहीं दौड़े जाते
हैं। मैं सभी को स्वयं मृत्यु के मुंह में दौड़ते देखता हूं। ठहरो और सोचो! आपके पैर
आपको कहां लिए जा रहे हैं? आप उन्हें चला रहे हैं या कि वे ही आपको चला र
हे हैं।

प्रतिदिन ही कोई मृत्यु के मुंह में गिरता है और आप ऐसे खड़े रहते हैं जैसे यह दुभ
ग्यि उस पर ही गिरने को था। आप दर्शक बने रहते हैं। यदि आपके पास सत्य को
देखने की आंखें हों तो उसकी मृत्यु में अपनी भी मृत्यु दिखाई पड़ती है। वही आपके
साथ भी होने को है—वस्तुतः हो ही रहा है। आप रोज-रोज मर ही रहे हैं। जिसे
आपने जीवन समझ रखा है, वह क्रमिक मृत्यु है। हम सब धीरे-धीरे मरते रहते हैं।
मरण की यह प्रक्रिया इतनी धीमी है कि जब तक कि वह अपनी पूर्णता नहीं पा
लेती तब तक प्रकट ही नहीं होती। उसे देखने के लिए विचार की सूक्ष्म दृष्टि चाि
हए।

चर्मचक्षुओं से तो केवल दूसरों की मृत्यु का दर्शन होता है किंतु विचार-चक्षु स्वयं
को मृत्यु से घिरी और मृत्योन्मुख स्थिति को भी स्पष्ट कर देते हैं। स्वयं को इस सं
कट की स्थिति में घिरा जानकर ही जीवन को पाने की आकांक्षा का उद्‌भव होता
है। जैसे कोई जाने कि वह जिस घर में बैठा है उसमें आग लगी हुई है और फिर
उस घर के बाहर भागे, वैसे ही स्वयं के गृह को मृत्यु की लपटों से घिरा जान हमा
रे भीतर भी जीवन को पाने की तीव्र और उत्कट अभीप्सा पैदा होती है। इस अभीप्
सा से बड़ा और कोई सौभाग्य नहीं, क्योंकि वही जीवन के उत्तरोत्तर गहरे स्तरों
में प्रवेश दिलाती है।

क्या आपके भीतर ऐसी कोई प्यास है? क्या आपके प्राण ज्ञात के ऊपर अज्ञात को
पाने को आकुल हुए हैं?

यदि नहीं, तो समझें कि आपकी आंखें बंद हैं और आप अंधे बने हुए हैं। यह अंधा
पन मृत्यु के अतिरिक्त और कहीं नहीं ले जा सकता है।

जीवन तक पहुंचने के लिए आंखें चाहिए। उमंग रहते चेत जाना आवश्यक है। फिर
पीछे से कुछ भी नहीं होता।

आंखें खोलें और देखें तो चारों ओर मृत्यु दिखाई पड़ेगी। समय में, संसार में मृत्यु ही है। लेकिन समय के—संसार के बाहर स्वयं में अमृत भी है। तथाकथित जीवन को जो मृत्यु की भांति जान लेता है, उसकी दृष्टि सहज ही स्वयं में छिपे अमृत की ओर उठने लगती है।

जो उस अमृत को पा लेता है, जी लेता है, उसे फिर कहीं भी मृत्यु नहीं रह जाती है। फिर बाहर भी मृत्यु नहीं है। मृत्यु भ्रम है और जीवन सत्य है।

[illegible]

अहिंसा क्या है?

मैं अहिंसा पर बहुत विचार करता था। जो कुछ उस संबंध में सुनता था, उससे तृप्ति नहीं होती थी। वे बातें बहुत ऊपरी होती थीं। बुद्धि तो उनसे प्रभावित होती थी, पर अंतस् अछूता रह जाता था। धीरे-धीरे इसका कारण भी दिखा। जिस अहिंसा के संबंध में सुनता था, वह नकारात्मक थी। नकार बुद्धि से ज्यादा गहरे नहीं जा सकता है। जीवन को छूने के लिए कुछ विधायक चाहिए। अहिंसा, हिंसा को छोड़ना ही हो, तो वह जीवनस्पर्शी नहीं हो सकती है। वह किसी को छोड़ना नहीं, किसी की उपलब्धि होनी चाहिए। वह त्याग नहीं, प्राप्ति हो, तभी सार्थक है।

अहिंसा शब्द की नकारात्मकता ने बहुत भ्रांति को जन्म दिया है। वह शब्द तो नकारात्मक है, पर अनुभूति नकारात्मक नहीं है। वह अनुभूति शुद्ध प्रेम की है। प्रेम राग हो तो अशुद्ध है, प्रेम राग न हो तो शुद्ध है। राग-युक्त प्रेम किसी के प्रति होता है, राग-मुक्त प्रेम सबके प्रति होता है। सच यह है कि वह किसी के प्रति नहीं होता है। बस, केवल होता है। प्रेम के दो रूप हैं। प्रेम संबंध हो तो राग होता है। प्रेम स्वभाव हो, स्थिति हो तो, वीतराग होता है। यह वीतराग प्रेम ही अहिंसा है।

प्रेम के संबंध से स्वभाव में परिवर्तन अहिंसा की साधना है। वह हिंसा का त्याग नहीं, प्रेम का स्फुरण है। इस स्फुरण में हिंसा तो अपने आप छूट जाती है, उसे छोड़ने के लिए अलग से कोई आयोजन नहीं करना पड़ता है। जिस साधना में हिंसा को भी छोड़ने की चेष्टा करनी पड़े वह साधना सत्य नहीं है। प्रकाश के आते ही अंधेरा चला जाता है। यदि प्रकाश के आने पर भी उसे अलग करने की योजना करनी पड़े तो जानना चाहिए कि जो आया है, वह और कुछ भी हो, पर कम-से-कम प्रकाश तो नहीं है। प्रेम पर्याप्त है। उसका होना ही, हिंसा का न होना है।

प्रेम क्या है? साधारणतः जिसे प्रेम करके जाना जाता है, वह राग है और अपने-आप को भुलाने का उपाय है। मनुष्य दुःख में है और अपने-आप को भूलना चाहता है। तथाकथित प्रेम के माध्यम से वह स्वयं से दूर चला जाता है। वह किसी और में अपने को भुला देता है। प्रेम मादक द्रव्यों का काम कर देता है। वह दुःख से मुक्ति नहीं लाता, केवल दुःखों के प्रति मूर्च्छा ला देता है। इसे मैं प्रेम का संबंध-रूप कहता

हूं। वह वस्तुतः प्रेम नहीं, प्रेम का भ्रम ही है। प्रेम का यह भ्रम-रूप दुःख से उत्पन्न होता है। दुःखानुभव व्यक्ति चेतना को दो दिशाओं में ले जा सकता है।

एक दिशा है उसे भूलने की, और एक दिशा है उसे विसर्जित करने की। जो दुःख विस्मृति की दिशा पकड़ता है वह जाने-अनजाने किसी न किसी प्रकार की मादकता और मूर्च्छा की खोज करता है। दुःख-विस्मरण में आनंद का आभास ही हो सकता है, क्योंकि जो है उसे बहुत देर तक भूलना असंभव हो सकता है। यह आभास ही सुख है। निश्चय ही यह सुख बहुत क्षणिक है। साधारण रूप से प्रेम नाम से जाना जानेवाला प्रेम ऐसे ही. . . मूर्च्छा और विस्मरण की चित्तस्थिति है। वह दुःख से उत्पन्न होता है, और दुःख को भुलाने के उपाय से वह ज्यादा नहीं है।

मैं जिस प्रेम को अहिंसा कहता हूं वह आनंद का परिणाम है। उससे दुःख-विस्मरण नहीं होता है, वरन् उसकी अभिव्यक्ति ही दुःख-मुक्ति पर होती है। वह मादकता नहीं, परिपूर्ण जागरण है। जो चेतना दुःख-विस्मरण नहीं, दुःख-विसर्जन की दिशा में चलती है, वह उस संपदा की मालिक बनती है, जिसे प्रेम कहते हैं। भीतर आनंद हो तो बाहर प्रेम फलित होता है। वस्तुतः जो भीतर आनंद है, वही बाहर प्रेम है। वे दोनों दो नहीं हैं, वरन एक ही अनुभूति की दो प्रतीतियां हैं। वे एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

आनंद स्वयं को अनुभव होता है। प्रेम जो निकट आते हैं, उन्हें अनुभव होता है। आनंद केंद्र है, तो प्रेम परिधि है। ऐसा प्रेम संबंध नहीं, स्वभाव है। जैसे सूरज से प्रकाश निसृत होता है, ऐसे ही वह स्वयं से निसृत होता है। प्रेम के इस स्वभाव और रूप में कोई बाह्य आकर्षण नहीं, आंतरिक प्रवाह है। उसका बाहर से न कोई संबंध है, न कोई अपेक्षा है। वह बाहर से मुक्त और स्वतंत्र है। इस प्रेम को मैं अहिंसा कहता हूं।

मैं यदि दुःख में हूं तो हिंसा में हूं। मैं यदि आनंद में हो जाऊं तो अहिंसा में हो जाऊंगा। इसलिए स्मरणीय है कि अहिंसा की नहीं जाती है। वह क्रिया नहीं सत्ता है। उसका संबंध कुछ करने से नहीं, कुछ होने से है। वह आचार-परिवर्तन नहीं, आत्म क्रांति है। दुःख से जो प्रवाहित होता है, वह हिंसा है। आनंद से जो प्रवाहित होता है, वह हिंसा-निरोध है। मैं क्या करता हूं, यह सवाल नहीं है। मैं क्या हूं, यह सवाल है।

मैं दुःख हूं या आनंद हूं, यह प्रत्येक को अपने से पूछना है। उस उत्तर पर ही सब कुछ निर्भर करता है। तथाकथित आनंद के पीछे झांकना है, भुलावों और आत्मवंचनाओं के आवरणों को उघाड़कर देखना है। उसे 'जो वस्तुतः है' जानने को स्वयं के समक्ष नग्न होना जरूरी है। आवरणों के हटते ही दुःख की अतल गहराइयां अनुभव होती हैं। घने अंधेरे और संताप का दुःख अनुभव होता है। भय लगता है, वापिस अपने आवरण को ओढ़ लेने का मन होता है। इस भांति भयभीत होकर जो अपने दुःख को ढांक लेते हैं, वे कभी आनंद को उपलब्ध नहीं होते हैं। दुःख को ढांकना नहीं,

मिटाना है और उसे मिटाने के लिए उसका साक्षात करना होता है। यह साक्षात ही तप है।

दुःख का विस्मरण संसार में ले जाता है। दुःख का साक्षात स्वयं में ले जाता है। जो उससे भागता है और उसे भूलना चाहता है, वह मूर्च्छा को आमंत्रण देता है। वह स्वयं ही मूर्च्छा की खोज करता है। साधारणतः जिसे हम जीवन कहते हैं वह मूर्च्छा के अतिरिक्त और क्या है? और जिसे हम सफल जीवन कहते हैं, वह सफलता पा लेने के सिवाय और क्या है? जीवन में सन्निहित दुःख को जो धन की, या यश की, या काम की मादकता में भूलने में सफल मालूम होते हैं उन्हें हम सफल कहते हैं। पर सत्य कुछ अन्यथा ही है। ऐसे लोग जीवन को पाने में नहीं, गंवाने में सफल हो गए हैं। उन्होंने दुःख को भुलाकर आत्मघात ही कर लिया है। दुःख के प्रति जागरण आनंद को आत्मा में प्रतिष्ठित कर देता है।

दुःख साक्षात् अमूर्च्छा लाता है। उससे निद्रा टूटती है। जो व्यक्ति दुःख या संताप से घबराकर पलायन नहीं करता, और किन्हीं सपनों में स्वयं को नहीं खो लेता है, वह अपने भीतर एक अभूतपूर्व चैतन्य को जागृत करता है। वह एक क्रांति का साक्षी बनता है। चैतन्य का यह जागरण उसे आमूल परिवर्तित कर देता है। वह अपने भीतर अंधेरे को टूटते हुए देखता है और देखता है कि उसकी चेतना के रंध्र-रंध्र से प्रकाश परिव्याप्त हो रहा है। इस प्रकाश में पहली बार वह स्वयं को जानता है। पहली बार उसे दिखता है कि वह कौन है!

दुःख साक्षात् के दबाव में ही आत्म-जागरण होता है। आंतरिक पीड़ा का आत्यंतिक बोध अपनी चरम स्थिति पर विस्फोट बन जाता है। जो इस सीमा तक पीड़ा से गुजरने को राजी होते हैं, वे पीड़ा के बाहर पहुंच जाते हैं। जो इतना साहस करता है, उसके लिए सत्य अपना द्वार खोल देता है।

मैं कौन हूं, यह जान लेना ही सत्य को जान लेना है। इस बोध के साथ ही दुःख विसर्जित हो जाता है। दुःख स्व-अज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैं अपने को जानते ही आनंद का अधिकारी हो जाता हूं। वह जो प्रत्येक के भीतर है, सच्चिदानंद है। उस ब्रह्म की अनुभूति आनंद है। ब्रह्म को, आत्मा को जानना सत्य को जानना है। सत्य को जानना आनंद को पा लेना है।

सत्य पाया जाता है। आनंद और प्रेम उसमें फलित होते हैं। जो अंतस् में आनंद होता है, वही आचरण में अहिंसा होकर दिखता है। अहिंसा सत्यानुभूति का परिणाम है। वह सत्य के दीए का प्रकाश है।

समाधि के पौधे में सत्य के फूल लगते हैं और अहिंसा की सुगंध आकाश में परिव्याप्त हो जाती है।

आनंद की दिशा

यह क्या हो गया है? मनुष्य को यह क्या हो गया है? मैं आश्चर्य में हूं कि इतनी आत्मविपन्नता, इतनी अर्थहीनता और इतनी घनी ऊब के बावजूद भी हम कैसे जी रहे हैं!

मैं मनुष्य की आत्मा को खोजता हूं तो केवल अंधकार ही हाथ आता है और मनुष्य के जीवन में झांकता हूं तो सिवाय मृत्यु के और कुछ भी दिखाई नहीं पड़ता है। जीवन है, लेकिन जीने का भाव नहीं। जीवन है, लेकिन एक बोझ की भांति। वह स ौंदर्य, समृद्धि और शांति नहीं है। और आनंद न हो, आलोक न हो तो निश्चय ही जीवन नाम-मात्र को ही जीवन रह जाता है।

क्या हम जीवन को जीना ही तो नहीं भूल गए हैं?

पशु, पक्षी और पौधे भी हमसे ज्यादा सघनता, समृद्धि और संगीत में जीते हुए मालू म होते हैं। लेकिन शायद कोई कहे कि मनुष्य की समृद्धि तो दिन दूनी रात चौगुनी बढ़ती जा रही है—फिर भी आप यह क्या कह रहे हैं? उत्तर में मैं कहूंगा—'परमात मा मनुष्य को उसकी तथाकथित समृद्धि से बचाए। वह समृद्धि नहीं, बस केवल दरि द्रता और दीनता को भुलाने का उपाय है। यह समृद्धि, शक्ति और प्राप्ति सब स्वयं से पलायन है।'

मैं, समृद्धि के वस्त्रों को उतारकर, जब मनुष्य को देखता हूं तो उसकी आंतरिक दि रद्रता को देखकर हृदय बहुत विषाद से भर जाता है। क्या इस दरिद्रता को छिपाने और विस्मरण करने के लिए ही हम समृद्धि को नहीं ओढ़े हुए हैं?

जो थोड़ा-सा भी विचार करेगा, वह सहज ही इस सत्य से परिचित हो जाएगा। आत महीनता से पीड़ित व्यक्ति पद को खोजते हैं, और आत्मदरिद्रता से ग्रसित धन और संपदा को। भीतर जो है, उससे पलायन करने को उसके विपरीत ही हम बाहर स्व यं को निर्मित करने लगते हैं। अहंकारी विनीत बन जाते हैं और अतिकामी ब्रह्मचर्य और साधुता में स्वयं को भुला लेना चाहते हैं।

मनुष्य जो भीतर होता है, साधारणतः ठीक उससे विपरीत ही वह बाहर स्वयं को प्र कट करता है। इसलिए ही दरिद्र संपदा को खोजते हैं और जो संपदाशाली होते हैं, वे दरिद्रता को वरण कर लेते हैं! क्या आपने दरिद्रों को सम्राट और सम्राटों को दरि द्र होते नहीं देखा है?

इसलिए यह न कहें कि मनुष्य की समृद्धि बढ़ गई। वस्तुओं की समृद्धि तो बढ़ी है प र मनुष्य की समृद्धि नहीं। वह और भी दरिद्र हो गया है। स्मरण रहे कि बाह्य समृ द्धि को बढ़ाने की पागल दौड़ में वह निरंतर और भी दरिद्र ही होता जाएगा। क्योंकि इस दौड़ में वह यह भूलता ही जा रहा है कि एक और प्रकार की समृद्धि भी है, जो बाहर नहीं, स्वयं के भीतर ही उपलब्ध की जाती है। वस्तुओं का बढ़ता जाना ह ी एकमात्र विकास नहीं है। एक और विकास भी है जिसमें स्वयं मनुष्य भी बढ़ता है। निश्चय ही वही विकास वास्तविक है, जिसमें मानवीय चेतना ऊर्ध्वगमन करती है और प्रगाढ़ता, सौंदर्य, संगीत और सत्य को उपलब्ध होती है।

मैं आप से ही पूछना चाहता हूं कि क्या आप वस्तुओं के संग्रह से ही संतुष्ट होना चाहते हैं, या कि चेतना के विकास की भी प्यास आप के भीतर है?

जो मात्र वस्तुओं में ही संतुष्टि सोचता है वह अंततः असंतोष के और कुछ भी नहीं पाता है, क्योंकि वस्तुएं तो केवल सुविधा ही दे सकती हैं, और निश्चय ही सुविधा और संतोष में बहुत भेद है। सुविधा कष्ट का अभाव है, संतोष आनंद की उपलब्धि है।

आपका हृदय क्या चाहता है? आपके प्राणों की प्यास क्या है? आपके श्वासों की तलाश क्या है? क्या कभी आपने अपने आपसे ये प्रश्न पूछे हैं? यदि नहीं, तो मुझे पूछने दें। यदि आप मुझसे पूछें तो मैं कहूंगा--'उसे पाना चाहता हूं जिसे पाकर फिर कुछ और पाने को नहीं रह जाता।' क्या मेरा ही उत्तर आपकी अंतरात्माओं में भी नहीं उठता है?

यह मैं आपसे ही नहीं पूछ रहा हूं, और भी हजारों लोगों से पूछता हूं और पाता हूं कि सभी मानव-हृदय समान हैं और उनकी आत्यंतिक चाह भी समान ही है।

आत्मा आनंद चाहती है--पूर्ण आनंद, क्योंकि तभी सभी चाहों का विश्राम आ सकता है। जहां चाह है, वहां दुःख है क्योंकि वहां अभाव है।

आत्मा सब अभावों का अभाव चाहती है। अभाव का पूर्ण अभाव ही आनंद है और वह स्वतंत्रता भी है, मुक्ति भी, क्योंकि जहां कोई भी अभाव है, वहीं बंधन है , सीमा है और परतंत्रता है। अभाव जहां नहीं है, वहीं परममुक्ति में प्रवेश है।

आनंद मोक्ष है और मुक्ति आनंद है। निश्चय ही जो परम आकांक्षा है, वह बीजरूप में प्रत्येक में प्रसुप्त होनी चाहिए; क्योंकि, जिस बीज में वृक्ष न छिपा हो, उसमें अंकुर भी नहीं आ सकता है। हमारी जो चरम कामना है, वहीं हमारा आत्यंतिक स्वरूप भी है; क्योंकि स्वरूप ही अपने पूर्ण विकास में आनंद और स्वतंत्रता में परिणत हो सकता है। स्वरूप ही सत्य है और उसकी पूर्ण उपलब्धि ही संतोष बनती है।

स्वरूप की संपदा को जो नहीं खोजता है, वह विपदाओं को ही संपदाएं समझता रहता है। निश्चय ही बाहर की कोई भी उपलब्धि अभावों का अभाव नहीं ला सकती है, क्योंकि बाहर की कोई भी संपत्ति भीतर के अभाव को कैसे भर सकेगी! अभाव आंतरिक है, तो बाहर की किसी भी विजय से उसका भराव नहीं होता है। इसलिए सब पाकर भी कुछ भी पाया-सा प्रतीत नहीं होता है, और बाहर सब होकर भी व्यक्ति भीतर रिक्त ही बना रहता है।

बुद्ध ने कहा है--'तृष्णा दुष्पूर है।'

कैसा आश्चर्य है कि चाहे हम कुछ भी पा लें, फिर भी पाने पर जो प्रतीत होता है, वह उतना ही रहता है जितना पाने के पूर्व था। इसलिए सम्राटों और भिखारियों का अभाव समान ही होता है। उस तल पर उनमें कोई भी भेद नहीं है।

फिर, बाह्य संगीत की दिशा में जो मिला हुआ भी मालूम होता है, उसकी भी कोई सुरक्षा नहीं है, क्योंकि किसी भी क्षण वह छिन सकता या नष्ट हो सकता है। अंततः मृत्यु तो उसे छीन ही लेती है। जो छीना जा सकता है, उसे हमारे अंतर्हृदय क

भी भी अपना न मान पाते हों तो आश्चर्य ही क्या! इसलिए ही संपत्ति सुरक्षा नहीं देती है, हालांकि हम उसे सुरक्षा के लिए खोजते हैं। उल्टे हमें ही उसकी सुरक्षा करनी होती है।

यह ठीक से समझ लें कि बाह्य संपत्ति, सुविधाओं और शक्तियों से न अभाव मिटता है, न असुरक्षा मिटती है, न भय मिटता है। उनके मिथ्या आश्वासन में ज्यादा से ज्यादा व्यक्ति उन्हें भूला भर रह सकता है। इसलिए ही संपत्ति को मद कहा है। उसकी मादकता में जीवन की वास्तविक स्थिति के दर्शन नहीं हो पाते हैं और अभाव का इस भांति विस्मरण अभाव से भी बुरा है, क्योंकि उसके कारण अभाव को मिटाने की वास्तविक दिशा में दृष्टि नहीं उठ पाती है।

जीवन में जो अभाव है, वह किसी वस्तु, शक्ति या संपदा के न होने के कारण नहीं है, क्योंकि उन सबों के मिल जाने पर भी उसे मिटते नहीं देखा जाता है। जिनके पास सब कुछ है, क्या उनकी दरिद्रता से आप परिचित नहीं हैं? आपके पास जो कुछ है, क्या उससे जरा भी आपकी दरिद्रता और दीनता मिटी है?

संपत्ति में और संपत्ति के होने में बहुत भेद है। बाहर की संपत्ति, शक्ति, सुरक्षा—सभी उस वास्तविक संपत्ति की छायाएं-भर हैं जो भीतर है।

अभावों का मूल कारण बाहर की किसी उपलब्धि का होना नहीं, वरन स्वयं की दृष्टि का बाहर होना है। इसलिए जो अभाव कुछ पाकर नहीं मिटते हैं, वे ही दृष्टि के भीतर मुड़ने पर पाए ही नहीं जाते हैं।

आत्मा का स्वरूप ही आनंद है, वह उसका कोई गुण नहीं, वरन उसका स्वरूप ही है। आत्मा का आनंद से कोई संबंध नहीं है, वस्तुतः आत्मा ही आनंद है। वे दोनों एक ही सत्य के नाम हैं। सत्ता की दृष्टि से जो आत्मा है, अनुभूति की दृष्टि से वही आनंद है।

लेकिन, उस आनंद को आत्मा मत समझ लेना जिसे साधारणतः 'आनंद' कहा जाता है। वह 'आनंद' आनंद नहीं है, क्योंकि आनंद के मिलते ही फिर आनंद की सब खोज बंद हो जाती है। जिसके मिलने से खोज और बढ़ती है, जिसके पाने से तृष्णा और प्रबल होती है, जिसे पाकर जिसके खोने का भय पीड़ित करता है, वह आनंद का मिथ्या आभास है, आनंद नहीं! निश्चय ही वह जल, जल नहीं है, जिससे प्यास और भी बढ़ जाती हो।

क्राइस्ट का वचन है : 'आओ, मैं उस कुएं का पानी तुम्हें दूं, जिसे पीने से प्यास सदा को मिट जाती है।'

हम सुख को ही आनंद समझ लेते हैं जबकि सुख आनंद का आभास-मात्र है, छाया और परछाईं है। इस आभास और भ्रम में ही अधिक लोग जीवन को गंवा देते हैं और अंततः अतृप्ति और असंतोष के और कुछ भी उन्हें हाथ नहीं लगता है। निश्चय ही यदि कोई मनुष्य झील के पानी में चांद के प्रतिबिंब को देख उसे खोजने को निकल पड़े तो अंततः वह क्या पा सकेगा?

वस्तुतः उसकी खोज उसे जितना ज्यादा झील की गहराई में डुबाएगी उतना ही ज्या
दा वह वास्तविक चांद से दूर निकलता जाएगा। सुख की खोज में ऐसे ही व्यक्ति अ
ानंद से दूर निकल जाते हैं। सुख को खोजते-खोजते जो मिलता है वह सुख नहीं, दुः
ख ही होता है। क्या जो मैं कह रहा हूं उसकी सच्चाई आपको दिखाई नहीं पड़ती है
? क्या आपका स्वयं का जीवन-अनुभव इस सत्य की गवाही नहीं है कि सुख की खो
ज अंततः दुःख के तट पर ले आती है?

यही स्वाभाविक भी है, क्योंकि कोई परछाईं या प्रतिबिंब केवल अपने बाह्य रूप में
ही मूल के समान है। वस्तुतः जो उसमें दिखाई पड़ता है, उससे बिल्कुल भिन्न ही उ
समें पाया जाता है।

प्रत्येक सुख, आनंद का आश्वासन और आकर्षण देता है, क्योंकि वह आनंद की छाय
ा है। लेकिन उसके पीछे जाने पर कुछ भी नहीं मिलता है, सिवाय असफलता, विषा
द और दुःख के; क्योंकि आपकी छाया को पकड़कर भी मैं आपको कैसे पा सकता हूं
? और फिर, यदि आपकी छाया को पकड़ लूं तो भी मेरी मुट्ठी में क्या कुछ हो स
कता है?

यह भी स्मरण दिला दूं कि प्रतिबिंब सदा ही विरोधी दिशा में बनते हैं। मैं एक दर्प
ण के सामने खड़ा हो जाऊं तो दर्पण में जहां मैं दिखाई पड़ रहा हूं वह ठीक उस ज
गह से विपरीत है जहां मैं हूं। ऐसा ही सुख भी है। वह अपने में मूलतः दुःख है क्यों
कि वह आनंद का प्रतिबिंब है, आनंद तो भीतर है, इसलिए सुख बाहर मालूम होता
है! आनंद आनंद है, इसलिए सुख वस्तुतः दुःख है।

मैं जो कह रहा हूं, उसे किसी भी सुख का पीछा जान लो। प्रत्येक सुख अनिवार्यतः
अंत में दुःख में परिणत हो जाता है और जो अंत में जैसा है, वह वस्तुतः आरंभ में
भी वैसा होता है।

हमारे पास आंखें गहरी नहीं होती हैं, इसीलिए जिसके दर्शन प्रारंभ में होने थे, उस
के दर्शन अंत में हो पाते हैं। यह असंभव है कि जो अंत में प्रकट हो, वह आरंभ से
ही उपस्थित न रहा हो। अंत तो आरंभ का ही विकास है। आरंभ में जो अप्रकट थ
ा वही अंत में प्रकट हो जाता है। पर न केवल हमारी आंखें उथला देखती हैं वरन्
अधिकांशतः तो वे देखती ही नहीं हैं। हम अकसर उन्हीं रास्तों पर बार-बार चले ज
ाते हैं, जिन पर बहुत बार पूर्व में जाकर भी दुःख, पीड़ा और अवसाद को झेल चुके
होते हैं।

जहां दुःख के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं पाया, उसी ओर फिर-फिर जाते हैं। क्यों
? क्योंकि शायद उसके अतिरिक्त और कोई मार्ग हमें दिखाई ही नहीं पड़ता है। इस
लिए मैंने कहा कि हम न केवल धुंधला और उथला देखते हैं बल्कि हम देखते ही न
हीं हैं। बहुत कम लोग हैं जो जीवन में आंखों का उपयोग करते हों।

आंखें तो सबके पास हैं, लेकिन आंखों के होते हुए भी अधिकांश अंधे बने रहते हैं।
जिसने स्वयं के भीतर नहीं देखा है, उसने कभी अपनी आंखों का उपयोग ही नहीं ि

क्या है। केवल वही कह सकता है कि 'मैं आंख वाला हूं' जिसने स्वयं को देखा है; क्योंकि जो स्वयं को ही नहीं देखता है, वह और क्या देखेगा?

आंखों की शुरूआत स्वयं को ही देखने से होती है और जो स्वयं को देखता है, दूसरे देखते हैं कि उसके चरण सुख की दिशा में नहीं जा रहे हैं। वह व्यक्ति आनंद की दिशा में चलना प्रारंभ कर देता है। सुख की दिशा स्वयं से संसार की ओर है; आनंद की दिशा संसार से स्वयं की ओर है।

मांगो और मिलेगा

मैं यह क्या देख रहा हूं? यह कैसी निराशा तुम्हारी आंखों में है? और क्या तुम्हें ज्ञात नहीं है कि जब आंखें निराश होती हैं, तब हृदय की वह अग्नि बुझ जाती है और वे सारी अभीप्साएं सो जाती हैं, जिनके कारण मनुष्य मनुष्य है।

निराशा पाप है, क्योंकि जीवन उसकी धारा में निश्चय ही ऊर्ध्वगमन खो देता है।

निराशा पाप ही नहीं, आत्मघात भी है क्योंकि जो श्रेष्ठतर जीवन को पाने में संलग्न नहीं है, उसके चरण अनायास ही मृत्यु की ओर बढ़ जाते हैं।

यह शाश्वत नियम है कि जो ऊपर नहीं उठता, वह नीचे गिर जाता है, और जो आगे नहीं बढ़ता, वह पीछे धकेल दिया जाता है।

मैं जब किसी को पतन में जाते देखता हूं तो जानता हूं कि उसने पर्वत शिखरों की ओर उठना बंद कर दिया होगा। पतन की प्रक्रिया विधेयात्मक नहीं है। घाटियों में जाना, पर्वतों पर न जाने का ही दूसरा पहलू है। वह उसकी ही निषेध-छाया है।

और जब तुम्हारी आंखों में मैं निराशा देखता हूं तो स्वाभाविक ही है कि मेरा हृदय प्रेम, पीड़ा और करुणा से भर जाए, क्योंकि निराशा मृत्यु की घाटियों में उतरने का प्रारंभ है।

आशा सूर्यमुखी के फूलों की भांति सूर्य की ओर देखती है, और निराशा?—वह अंधकार से एक हो जाती है। जो निराश हो जाता है, वह अपनी अंतर्निहित विराट् शक्ति के प्रति सो जाता है, और उसे विस्मृत कर देता है जो वह है, और जो वह हो सकता है।

बीज जैसे भूल जाए कि उसे क्या होना है और मिट्टी के साथ ही एक होकर पड़ा रह जाए, ऐसा ही वह मनुष्य है जो निराशा में डूब जाता है।

और आज तो सभी निराशा में डूबे हुए हैं!

नीत्से ने कहा है—'परमात्मा मर गया है।' यह समाचार उतना दुःखद नहीं है जितना कि आशा का मर जाना, क्योंकि आशा हो तो परमात्मा को पा लेना कठिन नहीं है और यदि आशा न हो तो परमात्मा के होने से कोई भेद नहीं पड़ता। आशा का आकर्षण ही मनुष्य को अज्ञात की यात्रा पर ले जाता है। आशा ही प्रेरणा है जो उसकी सोई शक्तियों को जगाती है और उसकी निष्क्रिय चेतना को सक्रिय करती है।

क्या मैं कहूं कि आशा की भावदशा ही आस्तिकता है?

और यह भी—कि आशा ही समस्त जीवन-आरोहण का मूल उत्स और प्राण है?
पर आशा कहां है? मैं तुम्हारे प्राणों में खोजता हूं तो वहां निराशा की राख के सिव
ाय और कुछ भी नहीं मिलता। आशा के अंगारे न हों तो तुम जीओगे कैसे? निश्चय
ही तुम्हारा यह जीवन इतना बुझा हुआ है कि मैं इसे जीवन भी कहने में असमर्थ
हूं!
मुझे आज्ञा दो कि मैं कहूं कि तुम मर गए हो! असल में तुम कभी जिए ही नहीं,
तुम्हारा जन्म तो जरूर हुआ था लेकिन वह जीवन तक नहीं पहुंच सका! जन्म ही
जीवन नहीं है। जन्म मिलता है, जीवन पाना होता है। इसलिए जन्म मृत्यु में ही छी
न भी लिया जाता है। लेकिन जीवन को कोई भी मृत्यु नहीं छीन पाती है। जीवन
जन्म नहीं है और इसलिए जीवन मृत्यु भी नहीं है।
जीवन जन्म के भी पूर्व है और मृत्यु के भी अतीत है। जो उसे जानता है वही केव
ल भयों और दुःखों के ऊपर उठ पाता है।
किंतु, जो निराशा से घिरे हैं, वे उसे कैसे जानेंगे? वे तो जन्म और मृत्यु के तनाव
में ही समाप्त हो जाते हैं!
जीवन एक संभावना है और उसे सत्य में परिणत करने के लिए साधना चाहिए। नि
राशा में साधना का जन्म नहीं होता क्योंकि निराशा तो बांझ है और उसमें कभी भ
ी किसी का जन्म नहीं होता है। इसीलिए मैंने कहा कि निराशा आत्मघाती है क्योंि
क उससे किसी भी भांति की सृजनात्मक शक्ति का आविर्भाव नहीं होता है।
मैं कहता हूं—उठो और निराशा को फेंक दो! उसे तुम अपने ही हाथों से ओढ़े बैठे ह
ो। उसे फेंकने के लिए और कुछ भी नहीं करना है सिवाय इसके कि तुम उसे फेंकने
को राजी हो जाओ। तुम्हारे अतिरिक्त और कोई उसके लिए जिम्मेदार नहीं है।
मनुष्य जैसा भाव करता है, वैसा ही हो जाता है। उसके ही भाव उसका सृजन कर
ते हैं। वही अपना भाग्य-विधाता है।
विचार—विचार—विचार . . . और उनका सतत आवर्त्तन ही अंततः वस्तुओं और स्ि
थतियों में घनीभूत हो जाता है।
स्मरण रहे कि तुम जो भी हो तुमने ही अनंत बार चाहा है, विचारा है और उसकी
भावना की है। देखो, स्मृति में खोजो तो निश्चय ही जो मैं कह रहा हूं उस सत्य
के तुम्हें दर्शन होंगे। और जब यह सत्य तुम्हें दिखेगा तो तुम स्वयं के आत्म-परिवर्त
न की कुंजी को पा जाओगे। अपने ही द्वारा ओढ़े भावों और विचारों को उतारकर
अलग कर देना कठिन नहीं होता है। वस्त्रों को उतारने में भी जितनी कठिनता होत
ी है उतनी भी उन्हें उतारने में नहीं होती है, क्योंकि वे तो हैं भी नहीं—सिवाय तुम्ह
ारे खयाल के उनकी कहीं भी कोई सत्ता नहीं है।
हम अपने ही भावों में, अपने ही हाथों से कैद हो जाते हैं, अन्यथा वह जो हमारे भ
ीतर है, सदा, सदैव ही स्वतंत्र है।

क्या निराशा से बड़ी और कोई कैद है?—नहीं! क्योंकि पत्थरों की दीवारें जो नहीं कर सकतीं, वह निराशा करती है। दीवारों को तोड़ना संभव है, लेकिन निराशा तो मुक्त होने की आकांक्षा को ही खो देती है।

निराशा से मजबूत जंजीरें भी नहीं हैं, क्योंकि लोहे की जंजीरें तो मात्र शरीर को ही बांधती हैं, निराशा तो आत्मा को भी बांध लेती है। निराशा की इन जंजीरों को त ोड़ दो! उन्हें तोड़ा जा सकता है, इसीलिए ही मैं तोड़ने को कह रहा हूं। उनकी स त्ता स्वप्न-सत्ता-मात्र है। उन्हें तोड़ने के संकल्प-मात्र से ही वे टूट जाएंगी। जैसे दीए के जलते ही अंधकार टूट जाता है, वैसे ही संकल्प के जागते ही स्वप्न टूट जाते हैं। और, फिर निराशा के खंडित होते ही जो आलोक चेतना को घेर लेता है, उसका ह ी नाम आशा है।

निराशा स्वयं आरोपित दशा है। आशा स्वभाव है, स्वरूप है।

निराशा मानसिक आवरण है—आशा आत्मिक आविर्भाव। मैं कह रहा हूं कि आशा स्‍ वभाव है—क्यों? क्योंकि यदि ऐसा न हो तो जीवन-विकास की ओर सतत गति और आरोहण की कोई संभावना न रह जाए। बीज अंकुर बनने को तड़पता है, क्योंकि कहीं उसके प्राणों के किसी अंतरस्थ केंद्र पर आशा का आवास है। सभी प्राण अंकुरि त होना चाहते हैं और जो भी है वह विकसित और पूर्ण होना चाहता है। अपूर्ण को पूर्ण के लिए अभीप्सा आशा के अभाव में कैसे हो सकती है? और पदार्थ की परमा त्मा की ओर यात्रा क्या आशा के बिना संभव है?

मैं नदियों को सागर की ओर दौड़ते देखता हूं तो मुझे उनके प्राणों में आशा का संच ार दिखाई पड़ता है। और, जब मैं अग्नि को सूर्य की ओर उठते देखता हूं तब भी उन लपटों में छिपी आशा के मुझे दर्शन होते हैं।

और क्या यह ज्ञात नहीं है कि छोटे-छोटे बच्चों की आंखों में आशा के दीप जलते हैं ?—और पशुओं की आंखों में भी और पक्षियों के गीतों में भी?

जो भी जीवित है, वह आशा से जीवित है और जो भी मृत है, वह निराशा से मृत है।

यदि हम छोटे बच्चों को देखें जिन्हें अभी समाज, शिक्षा और सभ्यता ने विकृत नहीं किया है, तो बहुत से जीवन-सूत्र हमें दिखाई पड़ेंगे। सबसे पहली बात दिखाई पड़ेगी —आशा, दूसरी बात—जिज्ञासा, और तीसरी बात—श्रद्धा। निश्चय ही ये गुण स्वाभावि क हैं।

उन्हें अर्जित नहीं करना होता है। हां, हम चाहें तो उन्हें खो अवश्य सकते हैं। फिर भी हम उन्हें बिल्कुल ही नहीं खो सकते हैं क्योंकि जो स्वभाव है वह नष्ट नहीं होता । स्वभाव केवल आच्छादित ही हो सकता है, विनष्ट नहीं।

और जो स्वभाव नहीं है, वह भी केवल वस्त्र ही बन सकता है, अंतस् कभी नहीं। इ सलिए मैं कहता हूं कि वस्त्रों को अलग करो और उसे देखो जो तुम स्वयं हो। सब वस्त्र बंधन हैं और निश्चय ही परमात्मा निर्वस्त्र है।

क्या अच्छा न हो कि तुम भी निर्वस्त्र हो जाओ? मैं उन वस्त्रों की बात नहीं कर र हा हूं, जो कपास के धागों से बनते हैं। उन्हें छोड़कर तो बहुत से व्यक्ति निर्वस्त्र हो जाते हैं और फिर भी वही बने रहते हैं जो वे वस्त्रों में थे—कपास में थे। कपास के कमजोर धागे नहीं, निषेधात्मक भावनाओं की लौह श्रृंखलाएं तुम्हारे बंधन हैं। उन्हें जो छोड़ता है वही उस निर्दोष नग्नता को उपलब्ध होता है, जिसकी ओर महावीर ने इशारा किया है।

सत्य को पाने को, स्वयं को जानने को, स्वरूप में प्रतिष्ठित होने को—सब वस्त्रों को छोड़ नग्न हो जाना आवश्यक है।

और निराशा के वस्त्र सबसे पहले छोड़ने होंगे क्योंकि उसके बाद ही दूसरे वस्त्र छोड़े जा सकते हैं।

परमात्मा की उपलब्धि के पूर्व यदि तुम्हारे चरण कहीं भी रुकें तो जानना कि निरा शा का विष कहीं न कहीं तुम्हारे भीतर बना ही हुआ है। उससे ही प्रमाद और आल स्य उत्पन्न होता है।

संसार में विश्राम के स्थलों को ही प्रभाववश गंतव्य समझने की भूल हो जाती है। प रमात्मा के पूर्व और परमात्मा के अतिरिक्त और कोई गंतव्य नहीं है। इसे अपनी स मग्र आत्मा को कहने दो। कहने दो कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई चरम वि श्राम नहीं, क्योंकि परमात्मा में ही पूर्णता है।

परमात्मा के पूर्व जो रुकता है, वह स्वयं का अपमान करता है क्योंकि वह जो हो स कता था, उसके पूर्व ही ठहर गया होता है।

संकल्प और साध्य जितना ऊंचा हो, उतनी ही गहराई तक स्वयं की सोई शक्तियां जागती हैं। साध्य की ऊंचाई ही तुम्हारी शक्ति का परिणाम है। आकाश को छूते वृ क्षों को देखो! उनकी जड़ें अवश्य ही पाताल को छूती होंगी। तुम भी यदि आकाश छूने की आशा और आकांक्षा से आंदोलित हो जाओगे तो निश्चय ही जानो कि तुम्ह ारे गहरे से गहरे प्राणों में सोई हुई शक्तियां जाग जाएंगी। जितनी तुम्हारी अभीप्सा की ऊंचाई होती है, उतनी ही तुम्हारी शक्ति की गहराई भी होती है।

क्षुद्र की आकांक्षा, चेतना को क्षुद्र बनाती है, तब यदि मांगना ही है तो परमात्मा क ो मांगो। वह जो अंततः तुम होना चाहोगे, प्रारंभ से ही उसकी ही तुम्हारी मांग होन ी चाहिए। क्योंकि, प्रथम ही अंततः अंतिम उपलब्धि बनता है।

मैं जानता हूं कि तुम ऐसी परिस्थितियों में निरंतर ही घिरे हो, जो प्रतिकूल हैं और परमात्मा की ओर उठने से रोकती हैं। लेकिन ध्यान में रखना कि जो परमात्मा क ी ओर उठे, वे भी कभी ऐसी ही परिस्थितियों से घिरे थे।

परिस्थितियों का बहाना मत लेना। परिस्थितियां नहीं, वह बहाना ही असली अवरोध बन जाता है। परिस्थितियां कितनी ही प्रतिकूल हों, वे इतनी प्रतिकूल कभी भी नह ीं हो सकती हैं कि परमात्मा के मार्ग में बाधा बन जावें!

वैसा होना असंभव है। वह तो वैसा ही होगा जैसे कि कोई कहे कि अंधेरा इतना घ ना है कि प्रकाश के जलाने में बाधा बन गया है। अंधेरा कभी इतना घना नहीं होता

और न ही परिस्थितियां इतनी प्रतिकूल होती हैं कि वे प्रकाश के आगमन में बाधा बन सकें। तुम्हारी निराशा के अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है। वस्तुतः तुम्हारे अतिरिक्त और कोई बाधा नहीं है।

उसे बहुत मूल्य कभी मत दो, जो आज है और कल नहीं होगा। जिसमें पल-पल परिवर्तन हैं, उसका मूल्य ही क्या? परिस्थितियों का प्रवाह तो नदी की भांति है। उसको देखो, उस पर ध्यान दो जो नदी की धारा में भी अडिग चट्टान की तरह स्थिर है—वह कौन है?—वह तुम्हारी चेतना है, वह तुम्हारी आत्मा है, वह तुम अपने वास्तविक स्वरूप में स्वयं हो!

सब बदल जाता है—बस वही अपरिवर्तित है। उस ध्रुव बिंदु को पकड़ो और उस पर ठहरो। लेकिन तुम तो आंधियों के साथ कांप रहे हो और लहरों के साथ थरथरा रहे हो। क्या वह शांत और अडिग चट्टान तुम्हें नहीं दिखायी पड़ती है, जिस पर तुम खड़े हो और जो तुम हो? उसकी स्मृति को लाओ। उसकी ओर आंखें उठते ही निराशा आशा में परिणत हो जाती है और अंधकार आलोक बन जाता है।

स्मरण रखना कि जो समग्र हृदय से, आशा और आश्वासन से, शक्ति और संकल्प से, प्रेम और प्रार्थना से, स्वयं की सत्ता का द्वार खटखटाता है, वह कभी भी असफल नहीं लौटता है, क्योंकि प्रभु के मार्ग पर असफलता है ही नहीं। पाप के मार्ग पर सफलता असंभव और प्रभु के मार्ग पर असफलता असंभव! पाप के मार्ग पर सफलता हो तो समझना कि भ्रम है और प्रभु के मार्ग पर असफलता हो तो समझना कि परीक्षा है।

वस्तुतः प्रभु की उपलब्धि का द्वार कभी बंद ही नहीं है। हम अपनी ही निराशा में अपनी ही आंख बंद कर लेते हैं, यह बात दूसरी है। निराशा को हटाओ और देखो, वह कौन सामने खड़ा है? क्या यही वह सूर्य नहीं है जिसकी खोज थी, क्या यही वह प्रिय नहीं है, जिसकी प्यास थी?

क्राइस्ट ने कहा है, 'मांगो और मिलेगा। खटखटाओ और द्वार खुल जाएंगे।' वही मैं पुनः कहता हूं। वही क्राइस्ट के पहले कहा गया था, वही मेरे बाद भी कहा जाएगा। धन्य हैं वे लोग जो द्वार खटखटाते हैं और आश्चर्य है उन लोगों पर जो प्रभु के द्वार पर ही खड़े हैं और आंख बंद किए हैं और रो रहे हैं!

●●त्!इ्ध●●●●त्!इ्इ१४इ१०●●

प्रेम ही प्रभु है

मैं मनुष्य को रोज विकृति से विकृति की ओर जाते देख रहा हूं, उसके भीतर कोई आधार टूट गया है। कोई बहुत अनिवार्य जीवन-स्नायु जैसे नष्ट हो गए हैं और हम संस्कृति में नहीं, विकृति में जी रहे हैं।

इस विकृति और विघटन के परिणाम व्यक्ति से समष्टि तक फैल गए हैं, परिवार से लेकर पृथ्वी की समग्र परिधि तक उसकी बेसुरी प्रतिध्वनियां सुनाई पड़ रही हैं। जिसे हम संस्कृति कहें, वह संगीत कहीं भी सुनाई नहीं पड़ता है।

मनुष्य के अंतस के तार सुव्यवस्थित हों तो वह संगीत भी हो सकता है। अन्यथा उससे बेसुरा कोई वाद्य नहीं है।

फिर जैसे झील में एक जगह पत्थर के गिरने से लहर-वृत्त दूर कूल-किनारों तक फैल जाते हैं, वैसे ही मनुष्य के चित्त में उठी हुई संस्कृति या विकृति की लहरें भी सारी मनुष्यता के अंतस्थल में आंदोलन उत्पन्न करती हैं। मनुष्य, जो व्यक्ति मालूम होता है, एकदम व्यक्ति ही नहीं है, उसकी जड़ें समष्टि तक फैली हुई हैं और इसलिए उसका रोग या स्वास्थ्य बहुत संक्रामक होता है।

हमारी सदी किस रोग से पीड़ित है? बहुत-से रोग गिनाए जाते हैं। मैं भी एक रोग की ओर इशारा करना चाहता हूं, और मेरी दृष्टि में शेष सारे रोगों की जड़ में वही रोग है। शेष रोग उस एक मूल रोग के ही परिणाम हैं। मनुष्य जब भी इस मूल रोग से ग्रसित होता है, तभी वह आत्मघात और विनाश में लग जाता है।

उस मूल रोग को मैं क्या नाम दूं? उसे नाम देना आसान नहीं है। फिर भी मैं कहना चाहूंगा कि वह रोग है—मनुष्य के हृदय में प्रेम-स्त्रोत का सूख जाना। हम प्रेम के अभाव से पीड़ित हैं। हमारे हृदय की धड़कनों में हृदय नहीं है और केवल फेफड़े ही धड़क रहे हैं।

प्रेम के अभाव से बड़ी दुर्घटना और दुर्भाग्य मनुष्य के जीवन में दूसरा नहीं है, क्योंकि वह जीता है किंतु जीवन से उसके संबंध विच्छिन्न हो जाते हैं। प्रेम हमें समग्र से जोड़ता है, प्रेम के अभाव में हम सत्ता से प्रथम और अकेले हो जाते हैं।

आज का मनुष्य अपने को अकेला और अजनबी अनुभव करता है। वह प्रेम के बिना निश्चय ही अकेला है। प्रेम के अभाव में प्रत्येक स्वयं में बंद अणु है, जिससे दूसरे तक न कोई द्वार है, न सेतु है। आज ऐसा ही हुआ है। हम सब अपने में बंद हैं। यह अपने में बंद होना अपनी कब्रों में होने से भिन्न नहीं है और हम जीते-जी मुर्दे हो गए हैं।

क्या जो मैं कह रहा हूं, उसका सत्य आपको दिखाई नहीं पड़ता है?

क्या आप जीवित हैं और अपने भीतर प्रेम की शक्ति का प्रवाह आपको अनुभव होता है? यदि वह प्रवाह आपके रक्त में नहीं है और उसकी धड़कनें हृदय में शून्य हो गई हैं, तो समझें कि आप जीवित नहीं हैं।

प्रेम ही जीवन है और प्रेम के अतिरिक्त और कोई जीवन नहीं है।

मैं एक यात्रा में था। वहां किसी ने पूछा था—मनुष्य की भाषा में सबसे मूल्यवान शब्द कौन-सा है। मैंने कहा था—'प्रेम'! तो पूछनेवाले मित्र चौंके थे। उन्होंने सोचा होगा कि मैं कहूंगा—'आत्मा या परमात्मा'। उनकी अपेक्षा भी स्वाभाविक ही थी किंतु उनकी उलझन को देखकर मुझे बहुत हंसी आ गई थी और मैंने कहा था—'प्रेम ही प्रभु' है!

निश्चय ही इस पृथ्वी पर जो किरण शरीर और मन के पार से आती है, वह किरण प्रेम की है।

प्रेम संसार में अकेली ही अपार्थिव घटना है। वह अद्वितीय है। मनुष्य का सारा दर्शन, सारा काव्य, सारा धर्म उससे ही अनुप्रेरित है। मानवीय जीवन में जो श्रेष्ठ और सुंदर है, वह सब प्रेम से ही जन्म और जीवन पाता है।

इसलिए मैं कहता हूं कि प्रेम ही प्रभु है। प्रेम की आशा-किरण के सहारे ही प्रभु के आलोकित लोक तक पहुंचा जाता है। प्रभु को सत्य कहने से भी ज्यादा प्रीतिकर उसे प्रेम कहना है। प्रेम में जो रस, जो जीवंतता, संगीत और सौंदर्य है, वह सत्य में नहीं है। सत्य में वह निकटता नहीं है, जो प्रेम में है। सत्य जानने की ही बात है, प्रेम होने की भी।

प्रेम का विकास और पूर्णता ही अंततः प्रभु-प्रवेश में परिणत हो जाता है। मैंने सुना है कि आचार्य रामानुज से किसी व्यक्ति ने धर्म-जीवन में दीक्षित किए जाने की प्रार्थना की थी। उन्होंने उससे पूछा था, 'मित्र, क्या तुम किसी को प्रेम करते हो?' वह बोला था—'नहीं, मेरा तो किसी से प्रेम नहीं है। मैं तो प्रभु को पाना चाहता हूं।' यह सुनकर रामानुज ने दुःखी हो उससे कहा था—'फिर मैं असमर्थ हूं। मैं तुम्हारे लिए कुछ भी नहीं कर सकता हूं। प्रेम तुम्हारे भीतर होता तो उसे परिशुद्ध कर प्रभु की ओर ले जाया जा सकता था। लेकिन तुम तो कहते हो कि वह तुममें है ही नहीं!'

प्रेम का अभाव सबसे बड़ी दरिद्रता है। जिसके भीतर प्रेम नहीं है, वह दीन है। वैसा व्यक्ति अपने हाथों नरक में है। श्वास-श्वास का, प्रेम से परिपूरित हो जाना ही मैंने स्वर्ग जाना है। वैसा व्यक्ति जहां होता है, वह स्वर्ग होता है।

मनुष्य अद्भुत पौधा है। उसमें विष और अमृत दोनों के फूल लगने की संभावना है। वह स्वयं के चित्त को यदि घृणा और अप्रेम से परिपोषित करे तो विष के फूलों को उपलब्ध हो जाता है और वह चाहे तो प्रेम को स्वयं में जगाकर अमृत के फूलों को पा सकता है।

मैं सबकी सत्ता में स्वयं को पृथक् और विरोधी मानकर अपने जीवन को ढालूं तो परिणाम में अप्रेम फलित होगा। ऐसा जीवन ही अधार्मिक जीवन है। वह असत्य भी है। क्योंकि वस्तुतः हमारा होना सागर पर लहरों के होने से भिन्न नहीं है। विश्व-सत्ता से कोई सत्तावान पृथक् नहीं है। सबके प्राणों का आदिस्रोत उसी केंद्र में है। उसे चाहें तो हम किसी नाम से पुकारें। नामों से कोई भेद नहीं पड़ता। सत्ता एक और अद्वय है।

और यदि मैं अपने जीवन को सर्व के विरोध में नहीं, वरन सर्व के स्वीकार और सहयोग में ढालूं तो परिणाम में प्रेम फलित होता है। प्रेम इस बोध का परिणाम है कि मैं सर्वसत्ता से पृथक् और अन्य नहीं हूं। मैं उसमें हूं और वह मुझ में है। ऐसा जीवन धार्मिक जीवन है।

एक प्रेमी ने अपनी प्रेयसी के द्वार को खटखटाया। भीतर से पूछा गया, 'कौन है?' उसने कहा 'मैं हूं तुम्हारा प्रेमी'। प्रत्युत्तर में उसे सुनाई पड़ा—'इस घर में दो के लायक स्थान नहीं है।' बहुत दिनों बाद वह पुनः उसी द्वार पर लौटा। उसने फिर द्वार

खटखटाया। फिर वही प्रश्न कि कौन? इस बार उसने कहा—'तू ही है!' और वे बंद द्वार उसके लिए खुल गए थे।

प्रेम के द्वार केवल उसके लिए ही खुलते हैं जो अपने 'मैं' को छोड़ने को तैयार हो जाता है। किसी एक व्यक्ति के प्रति यदि कोई अपने 'मैं' को छोड़ देता है तो लोक में उसे 'प्रेम' कहते हैं और जब कोई सर्व के प्रति अपने 'मैं' को छोड़ देता है, तो 'वही' प्रेम बन जाता है। वैसा प्रेम ही भक्ति है।

प्रेम काम नहीं है। जो काम को ही प्रेम समझ लेते हैं, वे प्रेम से वंचित रह जाते हैं। काम प्रेम का आभास और भ्रम है। वह प्रकृति का सम्मोहन है। उस सम्मोहन के य ांत्रिक माध्यम से प्रकृति संतति-उत्पादन का अपना व्यापार चलाती है। प्रेम का आया म उससे बहुत भिन्न और बहुत ऊपर है। वस्तुतः प्रेम जितना विकसित होता है, का म उतना ही विलीन होता है। वह ऊर्जा जो काम में प्रकट होती है, उसका संपरिवर्त न प्रेम में हो जाता है। प्रेम उस शक्ति का ही सृजनात्मक ऊर्ध्वीकरण है, और इसि लए जब प्रेम पूर्ण होता है, तो कामशून्यता अनायास ही फलित हो जाती है। प्रेम के ऐसे जीवन का नाम ही ब्रह्मचर्य है। काम से जिसे मुक्त होना है, उसे प्रेम को विक सित करना चाहिए। काम के दमन से कभी कोई काम से मुक्त नहीं होता। उससे मु क्ति तो केवल प्रेम में ही है।

मैंने कहा—'प्रेम ही प्रभु है'। यह अंतिम सत्य है। अब यह भी कहने दें कि प्रेम परिव ार है। यह प्रथम सीढ़ी है। और स्मरण रहे कि प्रथम के अभाव में अंतिम का कोई आधार नहीं है।

प्रेम से परिवार बनता है और प्रेम के विकास से परिवार बड़ा होता जाता है। फिर जब उस परिवार के बाहर कुछ भी नहीं रह जाता है, तो वही प्रभु हो जाता है।

प्रेम के अभाव में मनुष्य निपट निजता में रह जाता है। उसका कोई परिवार नहीं हो ता है। वह 'स्व' रह जाता है और 'पर' से उसका कोई सेतु नहीं रह जाता। यह क्र मिक मृत्यु है, क्योंकि जीवन तो पारस्परिकता में है, जीवन तो संबंधों में है।

प्रेम में 'स्व' और 'पर' का अतिक्रमण है और जहां न 'स्व' है, न 'पर' है, वहीं स त्य है।

सत्य के लिए जो प्यासे हैं उन्हें प्रेम साधना होगा—उस क्षण तक जब तक कि प्रेमी और प्रिय न मिट जाएं और केवल प्रेम ही शेष न रह जाए। प्रेम की ज्योति जब वि षय और विषयी के धुएं मुक्त हो निर्धूम जलती है, तभी मोक्ष है—तभी निर्वाण है। मैं उस परम मुक्ति के लिए सभी को आमंत्रित करता हूं!

नीति, भय और प्रेम

मैं सोचता हूं कि क्या बोलूं? मनुष्य के संबंध में विचार करते ही मुझे उन हजार अ ांखों का स्मरण आता है, जिन्हें देखने और जिनमें झांकने का मुझे मौका मिला है। उनकी स्मृति आते ही मैं दुःखी हो जाता हूं। जो उनमें देखा है, वह हृदय में कांटों की भांति चुभता है। क्या देखना चाहता था और क्या देखने को मिला! आनंद को खोजता था, पाया विषाद। आलोक को खोजता था, पाया अंधकार। प्रभु को खोजता था, पाया पाप। मनुष्य को यह क्या हो गया है?

उसका जीवन जीवन भी तो नहीं मालूम होता है। जहां शांति न हो, संगीत न हो, शक्ति न हो, आनंद न हो—वहां जीवन भी क्या होगा? आनंदरिक्त, अर्थशून्य अराज कता को जीवन कैसे कहें? जीवन नहीं, बस एक दुःस्वप्न ही उसे कहा जा सकता है—एक मूर्च्छा, एक बेहोशी और पीड़ाओं की एक लंबी श्रृंखला। निश्चय ही यह जीव न नहीं—बस एक लंबी बीमारी है जिसकी परिसमाप्ति मृत्यु में हो जाती है। हम जी भी नहीं पाते, और मर जाते हैं। जन्म पा लेना एक बात है, जीवन को पा लेने का सौभाग्य बहुत कम मनुष्यों को उपलब्ध हो पाता है।

जीवन को केवल वे ही उपलब्ध होते हैं, जो स्वयं के और सर्व के भीतर परमात्मा को अनुभव कर लेते हैं। इस अभाव में हम केवल शरीर-मात्र हैं और शरीर जड़ है, जीवन नहीं। स्वयं को जो शरीर मात्र ही जानता है, वह जीवित होकर भी जीवन को नहीं जानता है।

जीवन की अनादि अनंत धारा से अभी उसका परिचय नहीं हुआ, और उस परिचय के अभाव में जीवन आनंद नहीं हो पाता। आत्म-अज्ञान ही दुःख है। आत्म-ज्ञान हो तो मनुष्य का हृदय आलोक बन जाता है, और वह न हो तो उसका पथ अंधकारपू र्ण होगा ही। वह उसमें हो तो वह दिव्य हो जाता है, और वह न हो तो वह पशुओं से भी बदतर पशु है।

शरीर के अतिरिक्त और शरीर को अतिक्रमण करता हुआ अपने भीतर जो किसी भ ी सत्य का अनुभव नहीं कर पाते हैं, उनके जीवन पशु-जीवन से ऊपर नहीं उठ सक ते। शरीर के मृत्तिका घेरे से ऊपर उठती हुई जीवन-ज्योति जब अनुभव में आती है तभी ऊर्ध्वगमन प्रारंभ होता है। उसके पूर्व जो प्रकृति प्रतीत होती थी, वही उसके बाद परमात्मा में परिणत हो जाती है।

फिर जब स्वयं के भीतर अशांति हो, दुःख हो, संताप हो, अंधकार और जड़ता हो तो स्वभावतः उनके ही कीटाणु हमसे बाहर भी विस्तीर्ण होने लगते हैं। भीतर जो ह ो वह बाहर भी फैलने लगता है।

अंतस् ही तो आचरण बनता है। आचरण में हम उसी को बांटते हैं, जिसे अंतस् में पाते हैं। अंतस् ही अंततः आचरण है। हम जो भीतर हैं, वही हमारे अंतर्संबंधों में ब ाहर परिव्याप्त हो जाता है। प्रत्येक प्रतिक्षण स्वयं को उलीच रहा है। विचार में, वा णी में, व्यवहार में हम स्वयं को ही दान कर रहे हैं।

इस भांति व्यक्तियों के हृदय में जो उठता है, वही समाज बन जाता है। समाज में विष हो तो उसके बीज व्यक्तियों में छिपे होंगे और समाज को अमृत की चाह हो

तो उसे व्यक्तियों में ही बोना होगा। व्यक्तियों के हृदय आनंद से भरे हों तो उनके अंतर्संबंध करुणा, मैत्री और प्रीति से भर जाते हैं और दुःख से भरे हों तो हिंसा, वि द्वेष और घृणा से।

उनके भीतर जीवन-संगीत बजता हो तो उनके बाहर भी संगीत और सुगंध फैलती है, और उनके भीतर दुःख और संताप और रुदन हो तो उन्हीं की प्रतिध्वनियां उन के विचार और आचार में भी सुनी जाती हैं। यह स्वाभाविक ही है। आनंद को उपल ब्ध व्यक्ति का जीवन ही प्रेम बन सकता है।

प्रेम की नीति है, अप्रेम अनीति है। प्रेम में जो जितना गहरा प्रविष्ट होता है वह प्रभु में उतना ही ऊपर उठ जाता है, और जो प्रेम में जितना विपरीत होता है वह पशु में उतना ही पतित। प्रेम पवित्र जीवन का—नैतिक जीवन का मूलाधार है।

क्राइस्ट का वचन है—'प्रेम ही प्रभु है।' संत अगस्ताइन से किसी ने पूछा 'मैं क्या करूं, कैसे जीऊं कि मुझसे पाप न हो?' तो उन्होंने कहा था—'प्रेम करो, और फिर तुम जो भी करोगे वह सब ठीक होगा, शुभ होगा।'

'प्रेम'—इस एक शब्द में वह अणु छिपा है जो मनुष्य को पशु से प्रभु तक ले जाता है। लेकिन स्मरण रहे कि प्रेम केवल तभी संभव है जब भीतर आनंद हो। प्रेम को ऊपर से आरोपित नहीं किया जा सकता। वह कोई वस्त्र नहीं है जिसे हम ऊपर से ओढ़ सकें। वह तो हमारी आत्मा है। उसका तो आविष्कार करना होता है। उसे ओ. ढना नहीं, उघाड़ना होता है—आरोपण नहीं, आविर्भाव होता है।

प्रेम किया नहीं जाता है। वह तो एक चेतना अवस्था है जिसमें हुआ जाता है। प्रेम कर्म नहीं है, स्वभाव हो तभी सत्य होता है। और तभी वह दिव्य जीवन का आधार भी बनता है।

यह भी स्मरण रहे कि सहज स्फुरित स्वभाव-रूप प्रेम के अभाव में जो नैतिक जीवन होता है, वह दिव्यता की ओर ले जाने में असमर्थ है, क्योंकि वस्तुतः वह सत्य नह ीं है। उसके आधार किसी न किसी रूप में भय और प्रलोभन पर रखे होते हैं—फिर चाहे वे भय या प्रलोभन लौकिक हों या पारलौकिक।

स्वर्ग के प्रलोभन या नरक के भय से यदि कोई नैतिक और पवित्र है तो उसे न तो मैं नैतिक कहता हूं और न ही पवित्र। वह सौदे में हो सकता है, लेकिन सत्य में न हीं। नैतिक जीवन तो बेशर्त जीवन है। उसमें पाने का प्रश्न ही नहीं है।

वह तो आनंद और प्रेम से स्फुरित सहचर्या है। उसकी उपलब्धि तो उसमें ही है, उ सके बाहर नहीं। सूर्य से जैसे प्रकाश झरता है, वैसे ही आनंद से पवित्रता और पुण्य प्रवाहित होते हैं।

एक अद्‌भुत दृश्य मुझे याद आ रहा है। संत राबिया किसी बाजार से दौड़ी जा रही थी। उसके एक हाथ में जलती हुई मशाल थी और दूसरे में पानी से भरा हुआ घड़ा। लोगों ने उसे रोका और पूछा —'यह घड़ा और मशाल किसलिए है और तुम कहां दौड़ी जा रही हो?' राबिया ने कहा था—'मैं स्वर्ग को जलाने और नरक को डुबाने जा रही हूं ताकि तुम्हारे धार्मिक होने के मार्ग की बाधाएं नष्ट हो जावें।'

मैं भी राबिया से सहमत हूं और स्वर्ग को जलाना और नरक को डुबाना चाहता हूं। वस्तुतः भय और प्रलोभन पर कोई वास्तविक नैतिक जीवन न कभी भी खड़ा हुआ है और न हो सकता है। उस भांति तो नैतिक जीवन का केवल एक मिथ्या आभास ही पैदा हो जाता है और उससे आत्मविकास नहीं, आत्मवंचना ही होती है।

इस तरह के मिथ्या नैतिक जीवन के आधार को मनुष्य के ज्ञान के विकास ने नष्ट कर दिया है और परिणाम में अनीति नग्न और स्पष्ट हो गई है। स्वर्ग और नरक क ी मान्यताएं थोथी मालूम होने लगी हैं और परिणामतः उनका प्रलोभन और भय भी शून्य हो गया है।

आज की अनैतिकता और अराजकता का मूल कारण यही है। नीति नहीं, नीति का आभास टूट गया है और यह शुभ ही है कि हम एक भ्रम से बाहर हो गए हैं। लेकिन एक बड़ा उत्तरदायित्व भी आ गया है—वह है सम्यक्, नैतिक जीवन के लिए नया आधार खोजने का। वह आधार भी सदा से है।

महावीर, बुद्ध, क्राइस्ट या कृष्ण की अंतर्दृष्टियां मिथ्या नैतिक आभासों पर नहीं खड़ी हैं। भय या प्रलोभन पर नहीं, प्रेम, ज्ञान और आनंद पर ही उसकी नींवें रखी गई हैं। प्रेमाधारित नीति का पुनरुद्धार करना है। उसके अभाव में मनुष्य के नैतिक जीवन का अब कोई भविष्य नहीं है।

भय पर आधारित नीति मर गई है। प्रेम पर आधारित नीति का जन्म न हो तो हमारे सामने अनैतिक होने के अतिरिक्त और विकल्प नहीं रह जाता। जबरदस्ती मनुष्य को नैतिक नहीं बनाया जा सकता है। उसकी बौद्धिक प्रौढ़ता अंधविश्वासों को अंगीकार नहीं कर सकती है।

मैं प्रेम में द्वार देखता हूं। उस द्वार से व्यक्त हुई पवित्रता और नैतिकता का पुनर्जन्म हो सकता है।

लेकिन मनुष्य में सर्व के प्रति प्रेम का जन्म तभी होता है, जब स्वयं में आनंद का जन्म हो। इसलिए असली प्रश्न आनंदानुभूति है। अंतस् में आनंद हो तो आत्मानुभूति से प्रेम उपजता है।

जो स्वयं की आत्यंतिक सत्ता से अपरिचित है, वह कभी भी आनंद को उपलब्ध नहीं हो सकता है। स्वरूप-प्रतिष्ठा ही आनंद है और इसीलिए स्वयं को जानना वस्तुतः नैतिक और शुभ होने का मार्ग है। स्वयं को जानते ही आनंद का संगीत बजने लगता है और ज्ञान का आलोक फैल जाता है और फिर जिसके दर्शन स्वयं के भीतर होते हैं, उसके ही दर्शन समस्त में होने लगते हैं।

स्वयं के अणु को जानते ही सर्व, समस्त सत्ता जान ली जाती है। स्वयं को ही सब में पाकर प्रेम का जन्म होता है। प्रेम से बड़ी और कोई क्रांति नहीं है और न उससे बड़ी कोई पवित्रता है और न उपलब्धि है। जो उसे पा लेता है वह जीवन को पा लेता है।

अहिंसा का अर्थ

मैं उन दिनों का स्मरण करता हूं जब चित्त पर घना अंधकार था और स्वयं के भीतर कोई मार्ग दिखाई नहीं पड़ता था। तब की एक बात खयाल में है। वह यह कि उन दिनों किसी के प्रति कोई प्रेम प्रतीत नहीं होता था। दूसरे तो दूर, स्वयं के प्रति भी कोई प्रेम नहीं था।

फिर, जब समाधि को जाना तो साथ ही यह भी जाना कि जैसे भीतर सोए हुए प्रेम से अनंत झरने अनायास ही सहज और सक्रिय हो गए हैं। यह प्रेम विशेष रूप से किसी के प्रति नहीं था। यह तो बस था, और सहज ही प्रवाहित हो रहा था। जैसे दीए से प्रकाश बहता है और फूलों से सुगंध, ऐसे ही वह भी बह रहा था। बोध के उस अद्‌भुत क्षण में जाना था कि वह तो स्वभाव का प्रकाश है। वह किसी के प्रति नहीं होता है। वह तो स्वयं की स्फुरणा है।

इस अनुभूति के पूर्व प्रेम को मैं राग मानता था। अब जाना कि प्रेम और राग तो भिन्न हैं। राग तो प्रेम का अभाव है। वह घृणा के विपरीत है, इसीलिए ही राग कभी भी घृणा में परिणत हो सकता है। राग और घृणा का जोड़ा है। वे एक-दूसरे में परिवर्तनीय हैं। प्रेम घृणा से विपरीत नहीं, भिन्न है। प्रेम घृणा और राग से अन्य है। वह आयाम ही दूसरा है। वह तो दोनों का अभाव है। किंतु वह उपेक्षा भी नहीं है। उपेक्षा मात्र अभाव है। प्रेम किसी अत्यंत ही अभिनव ऊर्जा का सद्‌भाव भी है। यह ऊर्जा स्वयं से सर्व के प्रति बहती है, लेकिन सर्व से आकर्षित होकर नहीं, वरन स्वयं से स्फुरित होकर!

प्रेम को जानकर मैंने अहिंसा का अर्थ जाना। यह अर्थ शास्त्र से नहीं, स्वयं से आया। स्वानुभव ने सब सुलझा दिया। प्रेम संबंध हो, तो राग है; प्रेम असंबंध, असंग और स्वस्फूर्त प्रवाह हो, तो अहिंसा है।

इसीलिए मैं कहने लगा कि वीतराग प्रेम अहिंसा है।

एक संन्यासी पूछता था कि जिस प्रेम की आप बात करते हैं, उसे कैसे पाएं? मैंने कहा—प्रेम सीधा नहीं पाया जाता है। वह तो परिणाम है। प्रज्ञा को उपलब्ध करो, तो प्रेम पारिश्रमिक में मिल जाता है। असली बात है प्रज्ञा। उसका दीया जलेगा, तो प्रेम का प्रकाश मिलेगा ही। प्रज्ञा हो और प्रेम न हो, यह असंभव है। ज्ञान हो और अहिंसा न हो, यह कैसे हो सकता है? इसलिए ही अहिंसा को सत्य-ज्ञान की परीक्षा माना गया है। वह परम धर्म है, क्योंकि वह आत्यंतिक कसौटी है। उसके निष्कर्ष पर खरा उतरकर ही धर्म खरा साबित होता है।

प्रज्ञा कैसे उपलब्ध हो, यह विचारणीय है!

धर्म की मूल जिज्ञासा भी यही है। हममें जो ज्ञानशक्ति है, वह विषय-मुक्त हो तो प्रज्ञा बन जाती है। विषय के अभाव में ज्ञान स्वयं को ही जानता है। स्वयं के द्वारा स्वयं का ज्ञान ही प्रज्ञा है। उस बोध में न कोई ज्ञाता होता है, न कोई ज्ञेय, मात्र ज्ञान की शुद्ध शक्ति ही शेष रह जाती है। उसका स्वयं से स्वयं का प्रकाशित होना प्रज्ञा है—ज्ञान का यह स्वयं पर लौट आना! मनुष्य-चेतना की सबसे बड़ी क्रांति से ही म

नुष्य स्वयं से संबंधित होता है और जीवन के प्रयोजन और अर्थवत्ता का उसके सम क्ष उद्घाटन होता है।

ऐसी क्रांति समाधि से उपलब्ध होती है। प्रज्ञा का साधन समाधि है। समाधि साधन है ; प्रज्ञा साध्य है, प्रेम उस सिद्धि का परिणाम है।

मनुष्य-चित्त सतत विषय-प्रवाह से भरा है। कोई न कोई ज्ञेय हमारे ज्ञान को घेरे हु ए है। ज्ञेय से ज्ञान को मुक्त करना है। उस खूंटी से मुक्त होकर ही उसकी स्वयं में स्थिरता और प्रतिष्ठा होगी। समाधि इस मुक्ति का उपाय है। सुषुप्ति भी मुक्ति होत ी है लेकिन वह अवस्था मूर्च्छित है।

सुषुप्ति में मन स्वयं में लीन हो जाता है। यह स्थिति उसका अपना स्वरूप है। इसे ह ी कहते हैं—'स्वप्ति' (सोता है)! स्व का अर्थ है अपने आप, और अप्ति का अर्थ है 'प्रवेश कर जाना'। अपने आप में प्रवेश कर जाना ही सुषुप्ति है।

समाधि और सुषुप्ति केवल एक बात को छोड़कर बिल्कुल समान हैं। सुषुप्ति अचेतन और मूर्च्छित अवस्था है—समाधि पूर्ण चेतन और अप्रकट। इसीलिए सुषुप्ति में हम जगत् के साथ एक हो गए मालूम होते हैं—और समाधि में परम चेतना के साथ।

इसीलिए स्मरण रहे कि समाधि सुषुप्ति नहीं है। अनेक मनस्तत्त्ववेत्ताओं का खयाल है कि चेतना जब निर्विषय होगी, तो निद्रा आ जाएगी। यह भ्रांति बिना प्रयोग किए सोचने से पैदा हुई है। चेतना सो जाए तो निर्विषय हो जाती है। लेकिन इससे यह फलित नहीं होता है कि वह निर्विषय होगी तो सो जाएगी। उसे निर्विषय बनाना ही इतने श्रम और सचेष्ट जागरूगता से होता है कि उसकी उपलब्धि पर सो जाना अ संभव है। उसकी उपलब्धि पर तो शुद्धबुद्धता ही शेष रह जाती है।

समाधि-साधना के तीन अंग हैं—एक : चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति; दो : चित्त-वृ त्तियों के प्रति जागरूकता और तीन: चित्त-साक्षी की स्मृति!

चित्त-विषयों के प्रति अनासक्ति से उनके संस्कार बनने बंद होते हैं, और चित्त-वृत्ति यों के प्रति जागरूकता से उन वृत्तियों का क्रमशः विसर्जन प्रारंभ होता है, और चित्त -साक्षी की स्मृति से स्वयं प्रवेश का द्वार खुलता है।

जो वस्तु जहां उद्गम पाती है उससे ही अंततः लीन भी होती है। उद्गम बिंदु ही ल य बिंदु भी होता है। और जो उद्गम है, जो लय है, वही स्व-स्वरूप भी है।

समाधि चित्त की लयावस्था है, जैसे सागर की लहरें सागर में ही अंततः लय को प्रा प्त हो जाती हैं, वैसे ही चित्त भी, समाधि अवस्था में अपनी समस्त वृत्तितरंगों को शून्य कर परम चेतना में लय होता है।

चित्त और चित्त-वृत्तियों के समग्र संस्थान का केंद्र अहंकार है। उनके विलीन होने से वह भी विसर्जित हो जाता है। तब जो शेष रहता है, और जिसकी अनुभूति होती है, वही आत्मा है।

अहिंसा क्या है? यह तो रोज ही मुझसे पूछा जाता है। मैं कहता हूं, आत्मा को जा न लेना अहिंसा है।

मैं यदि स्वयं को जानने में समर्थ हो जाऊं, तो साथ ही सबके भीतर जिसका वास है, उसे भी जान लूंगा। इस बोध से प्रेम उत्पन्न होता है, और प्रेम के लिए किसी को भी दुःख देना असंभव है। किसी को दुःख देने की यह असंभावना ही अहिंसा है। आत्म-अज्ञान का केंद्रीय लक्षण अहं है। उससे ही समस्त हिंसा उत्पन्न होती है। 'मैं' सब कुछ हूं और शेष जगत् मेरे लिए है। 'मैं' समस्त सत्ता का केंद्र और लक्ष्य हूं--इस 'मैं' भाव से पैदा हुआ शोषण ही हिंसा है। आत्मज्ञान का केंद्रीय लक्षण प्रेम है। जहां अहं शून्य होता है, वहीं प्रेम पूर्ण होता है। जगत् में दो ही प्रकार की चेतना-स्थितियां हैं--अहं की और प्रेम की। अहं संकीर्ण और अणुस्थिति है--प्रेम विराट और ब्रह्म। अहं का केंद्र 'मैं' है, प्रेम का कोई केंद्र नहीं है, या 'सर्व' ही उसका केंद्र है। अहं अपने लिए जीता है, प्रेम सबके लिए जीता है। अहं शोषण है, प्रेम सेवा है। प्रेम से सहज प्रवाहित सेवा ही अहिंसा है।

समाधि को साधो, ताकि तुम्हारा जीवन प्रज्ञा के प्रकाश से भर जाए। जब भीतर प्रकाश होगा, तभी बाहर प्रेम बहेगा। प्रेम आत्मिक उत्कर्ष और उपलब्धि का श्रेष्ठतम फल है। जो उसे पाए बिना समाप्त हो जाते हैं, वे जीवन को बिना जाने ही समाप्त हो जाते हैं।

प्रेम को नहीं जाना तो कुछ भी नहीं जाना, क्योंकि प्रेम ही प्रभु है!

मैं मृत्यु सिखाता हूं

मैं प्रकाश की बात नहीं करता हूं, वह कोई प्रश्न ही नहीं है। प्रश्न वस्तुतः आंख का है। वह है, तो प्रकाश है। वह नहीं है, तो प्रकाश नहीं है। क्या है वह, हम नहीं जानते हैं। जो हम जान सकते हैं, वही हम जानते हैं। इसलिए विचारणीय सत्ता नहीं, विचारणीय ज्ञान की क्षमता है। सत्ता उतनी ही ज्ञात होती है, जितना ज्ञान जाग्रत होता है।

कोई पूछता था--आत्मा है या नहीं है? मैंने कहा--आपके पास उसे देखने की आंख है, तो है, अन्यथा नहीं ही है। साधारणतः हम केवल पदार्थ को ही देखते हैं। इंद्रियों से केवल वही ग्रहण होता है। देह के माध्यम से जो भी जाना जाता है वह देह से अन्य हो भी कैसे सकता है? देह, देह को ही देखती है और देख सकती है। अदेही उससे अस्पर्शित रह जाता है। आत्मा उसकी ग्रहण-सीमा में नहीं आती है। वह पदार्थ से अन्य है। इसलिए उसे जानने का मार्ग भी पदार्थ से अन्य ही हो सकता है।

आत्मा को जानने का मार्ग धर्म है। धर्म उपदेश नहीं, वह उपचार है। वह उस आंतरिक चक्षु की चिकित्सा है जिससे जो पदार्थ के अतिरेक है और पदार्थ का अतिक्रमण करता है, उसे जाना जाता है।

वह कोई विचारणा नहीं, साधना है। विचारणा ऐंद्रिक है। क्योंकि सब विचार इंद्रियों से ही ग्रहण होते हैं और इसलिए विचारणा कभी ऐंद्रिक का अतिक्रमण नहीं कर प

ाती है। विचार अंतस् में जागते नहीं, बाहर से आते हैं। वे अंतस् नहीं, अतिथि हैं। वे स्वयं नहीं, पर हैं।

इसलिए विचार अपनी चरम परिणति में विज्ञान बनकर अनिवार्यतः पदार्थ-केंद्रित हो जाता है और जो विचार का उसके तार्किक अंत तक अनुगमन करेगा वह पाएगा ि क पदार्थ के अतिरिक्त जगत् में और कुछ भी नहीं है।

विचार स्वरूपतः आत्मा के निषेध के लिए आबद्ध है, क्योंकि उसका जन्म और ग्रहण इंद्रियों से होता है और जो इंद्रियों के अतीत है, वह उसकी सीमा नहीं। इसलिए आत्मा को प्रकट करनेवाले सब विचार असंगत और तर्कशून्य मालूम होते हैं। यह स् वाभाविक ही है।

धर्म अतर्क्य है, क्योंकि धर्म कोई विचार नहीं है। वह असंगत भी है। क्योंकि इंद्रिय-ज्ञान से उसकी कोई संगति संभव नहीं है, और वह इंद्रियों से नहीं वरन किसी बहुत ही अन्य और भिन्न मार्ग से उपलब्ध होता है।

धर्म विचार की अनुभूति नहीं, निर्विचार चैतन्य में हुआ बोध है। विचार इंद्रियजन्य है। निर्विचार चैतन्य अतींद्रिय है। विचार की चरम निष्पत्ति पदार्थ है।

निर्विचार चैतन्य का चरम साक्षात् आत्मा है। इसलिए जो विचारणा आत्मा के संबंध में है, वह व्यर्थ है। वह साधना सार्थक है जो निर्विचारणा की ओर है।

विचार के पीछे भी कोई है, वही बोध है, विवेक है, बुद्धि है। विचार में ग्रस्त और व्यस्त उसे नहीं जान पाता है। विचार धुएं की भांति उस अग्नि को ढांके रहते हैं। उ नमें होकर सारा जीवन ही धुआं हो जाता है और व्यक्ति उस ज्ञानाग्नि से अपरिचित ही रह जाता है, जो उसका वास्तविक होना है।

विचार पराए हैं। वह अग्नि ही अपनी है। विचार ज्ञान नहीं है। वही चक्षु है, जिससे सत्य जाना जाता है। वह नहीं है, तो हम अंधे हैं, और अंधेपन में प्रकाश तो क्या, अंधेरा भी नहीं जाना जा सकता।

एक बार एक साधु के पास कुछ लोग अपने अंधे मित्र को लाए थे। उन्होंने उसे बहु त समझाया था कि प्रकाश है, पर वह मानने को राजी नहीं हुआ था। उसका न मा नना ठीक भी था। मानना ही गलत हुआ होता, यही विचारसंगत था।

जो नहीं दीख रहा था, वह नहीं था। हममें से अधिक का तर्क भी यही है। वह अंधा भी विचारक था और विचार के नियमों के अनुकूल ही उसका वह व्यवहार था। उ सके मित्र ही गलत थे। साधु ने यही कहा था। उसने कहा था—मेरे पास क्यों लाए ह ो? किसी वैद्य के पास ले जाओ। तुम्हारे मित्र को प्रकाश समझाने की नहीं, चिकित्स ा की आवश्यकता है। मैं भी यही कहता हूं, आंख है तो प्रकाश है और जो प्रकाश के लिए सच है वही आत्मा के लिए भी सच है।

सत्य वही है जो प्रत्यक्ष हो। यद्यपि जो प्रत्यक्ष है, केवल वही सत्य नहीं है। सत्य अ नंत है। अनंत प्रत्यक्ष भी हो सकता है। विचार हमारी सीमा है, इंद्रियां हमारी सीमा हैं। इसलिए उनसे जो जाना जाता है, वह वही है जिसकी सीमा है।

असीम को, अनंत को, उनसे ऊपर उठकर जाना होता है। इंद्रियों के पीछे विचारशून्य चित्त की स्थिति में जिसका साक्षात् होता है, वही अनंत, असीम, अनादि आत्मा है।

आत्मा को जानने की आंख शून्य है। उसे ही समाधि कहा है। यह योग है। चित्त की वृत्तियों के विसर्जन से बंद आंखें खुलती हैं और सारा जीवन अमृत-प्रकाश से आलोकित और रूपांतरित हो जाता है। वहां पुनः पूछना नहीं होता कि आत्मा है या नहीं है। वहां जाना जाता है। वहां दर्शन है। विचार, वृत्तियां, चित्त जहां नहीं हैं—वहां दर्शन है।

शून्य से पूर्ण का दर्शन होता है और शून्य आता है विचार-प्रक्रिया के तटस्थ चुनाव-रहित साक्षीभाव से। विचार में शुभाशुभ का निर्णय नहीं करना है। वह निर्णय राग या विराग लाता है।

किसी को रोक रखना और किसी को परित्याग करने का भाव उससे पैदा होता है। वह भाव ही विचार-बंधन है। वह भाव ही चित्त का जीवन और प्राण है। उस भाव के आधार पर ही विचार की शृंखला अनवरत चलती चली जाती है। विचार के प्रति कोई भी भाव हमें विचार से बांध देता है।

उसके तटस्थ साक्षी का अर्थ है निर्भाव। विचार को निर्भाव के बिंदु से देखना ध्यान है। बस देखना है, और चुनाव नहीं करना है, और निर्णय नहीं लेना है। यह देखना बहुत श्रमसाध्य है।

यद्यपि कुछ करना नहीं है, पर कुछ न कुछ करते रहने की हमारी इतनी आदत बनी है कि कुछ न करने जैसा सरल और सहज कार्य भी बहुत कठिन हो गया है।

बस, देखने-मात्र के बिंदु पर थिर होने से क्रमशः विचार विलीन होने लगते हैं, वैसे ही जैसे प्रभात में सूर्य के उत्ताप में दूब पर जमे ओसकण वाष्पीभूत हो जाते हैं। बस, देखने का उत्ताप विचारों के वाष्पीभूत हो जाने के लिए पर्याप्त है। वह राह है जहां से शून्य उद्घाटित होता है और मनुष्य को आंख मिलती है और आत्मा मिलती है।

मैं एक अंधेरी रात में अकेला बैठा था। बाहर भी अकेला था, भीतर भी अकेला था। बाहर किसी की उपस्थिति नहीं थी और भीतर किसी का विचार नहीं था। कोई क्रिया भी नहीं थी। वह देखता था—कुछ देखता था, ऐसा नहीं, बस देखता ही था! उस देखने का कोई विषय नहीं था। वह देखना निर्विषय और आधार-शून्य था। वह किसी का देखना नहीं, बस मात्र देखना ही था। किसी ने आकर पूछा था कि क्या कर रहे हैं— अब मैं क्या कहता? कुछ कर तो रहा ही नहीं था। मैंने कहा—मैं कुछ नहीं कर रहा हूं। मैं बस हूं—यह मात्र होना ही शून्य है! यही वह बिंदु है जहां पदार्थ का अतिक्रमण और परमात्मा का आरंभ होता है।

मैं शून्य सिखाता हूं। मैं यह मिटना ही सिखाता हूं। मैं यह मृत्यु ही सिखाता हूं और यह इसलिए सिखाता हूं कि तुम पूर्ण हो सको, तुम अमृत हो सको! कैसा आश्चर्य है कि मिटकर जीवन मिलता है और जो जीवन से चिपटते हैं वे उसे खो देते हैं। पू

र्ण होने को जो चिंता में है, वह रिक्त और शून्य हो जाता है और जो शून्य होकर निश्चिंत है, वह पूर्ण को पा लेता है।

बूंद, बूंद रहकर सागर नहीं हो सकती। वह अहंकार निष्फल है। उस दिशा से बूंद त ो मिट सकती है, पर सागर नहीं हो सकती है। बूंद बने रहने का आग्रह ही तो साग र होने में बाधा है। वही तो आडंबर और रुकावट है।

सागर की ओर से द्वार कभी भी बंद नहीं है, क्योंकि जिसके द्वार पर बूंद अपने ही हाथों अपने में बंद होती है—उसकी दीवारें और सीमाएं उसकी अपनी ही हैं। सागर तो वह होना चाहती है पर अपने बूंद होने को नहीं तोड़ना चाहती है। यही उसकी दुविधा है। यही दुविधा मनुष्य की है। यह असंभव है कि बूंद, बूंद भी रहे, और सा गर हो जाए; और व्यक्ति, व्यक्ति भी रहे और ब्रह्म को जान ले, ब्रह्म हो जाए! 'मैं ' की बूंद मिटती है तो आत्मा का सागर उपलब्ध होता है।

आत्मा का सागर बहुत निकट है और हम व्यर्थ ही बूंद को पकड़कर रुके हुए हैं। अ ात्मा का अमृत निकट है और हम व्यर्थ ही मृत्यु को ओढ़कर बैठे हुए हैं। बूंद को ि मटाना पड़ेगा और हमें अपने ही हाथों से ओढ़े हुए वस्त्रों को दूर करना पड़ेगा और अपनी सीमाएं छोड़नी ही होंगी। तभी हम अनंत और असीम सत्य के अंग हो सकते हैं।

यह साहस जिनमें नहीं है वे धार्मिक नहीं हो सकते हैं। धर्म मनुष्य-जीवन का चरम साहस है, क्योंकि वह स्वयं को शून्य करने और विसर्जित करने का मार्ग है। धर्म भ यभीतों की दिशा नहीं है। स्वर्ग के लोभ से पीड़ित और नरक के भय से कंपितों के लिए वह पुरुषार्थ नहीं है। वे सारे प्रलोभन और भय बूंद के हैं।

उन भयों और प्रलोभनों से ही तो बूंद ने अपने को बनाया और बांधा है। बूंद को ि मटाना है और व्यक्ति को मृत्यु देना है। जिसमें इतना अभय और साहस है वही सा गर के निमंत्रण को स्वीकार कर सकता है। सागर का निमंत्रण ही सत्य का निमंत्रण है!

यह मन क्या है?

एक आकाश, एक स्पेस बाहर है, जिसमें हम चलते हैं, उठते हैं, बैठते हैं—जहां भव न निर्मित होते हैं और खंडहर हो जाते हैं। जहां पक्षी उड़ते, शून्य जन्मते और पृथ्वि यां विलुप्त होती हैं—यह आकाश हमारे बाहर है। किंतु यह आकाश जो बाहर फैला है, यही अकेला आकाश नहीं है—'दिस स्पेस इस नाट द ओनली स्पेस'—एक और भी आकाश है, वह हमारे भीतर है। जो आकाश हमारे बाहर है वह असीम है।

वैज्ञानिक कहते हैं, उसकी सीमा का कोई पता नहीं लगता। लेकिन जो आकाश हमा रे भीतर फैला है, बाहर का आकाश उसके सामने कुछ भी नहीं है। कहें कि वह अ सीम से भी ज्यादा असीम है। अनंत आयामी उसकी असीमता है—'मल्टी डायमेंशनल

इनफिनिटी' है। बाहर के आकाश में चलना, उठना होता है, भीतर के आकाश में जीवन है। बाहर के आकाश में क्रियाएं होती हैं, भीतर के आकाश में चैतन्य है। जो बाहर के ही आकाश में खोजता रहेगा वह कभी भी जीवन से मुलाकात न कर पाएगा। उसकी चेतना से कभी भेंट न होगी। उसका परमात्मा से कभी मिलन न हो गा। ज्यादा से ज्यादा पदार्थ मिल सकता है बाहर, परमात्मा का स्थान तो भीतर का आकाश है, अंतराकाश है, इनर स्पेस है।

जीवन के सत्य को पाना हो तो अंतर आकाश में उसकी खोज करनी पड़ती है। लेकिन हमें अंतर आकाश का कोई भी अनुभव नहीं है। हमने कभी भीतर के आकाश में कोई उड़ान नहीं भरी है। हमने भीतर के आकाश में एक चरण भी नहीं रखा है, हम भीतर की तरफ गए ही नहीं। हमारा सब जाना बाहर की तरफ है। हम जब भी जाते हैं बाहर ही जाते हैं।

मित्र का प्रश्न इससे संबंधित है।

उन्होंने पूछा है कि जब भीतर की, स्वरूप की स्थिति परम आनंद है तो यह मन कहां से आ जाता है? जब भीतर नित्य आनंद का वास है, तो ये मन के विचार कैसे जन्म जाते हैं? ये कहां से अंकुरित हो जाते हैं?

इस अंतर आकाश के संबंध में उसे भी समझ लेना उपयोगी है। यह प्रश्न सदा ही साधक के मन में उठता है कि जब मेरा स्वभाव ही शुद्ध है तो यह अशुद्धि कहां से आ जाती है? और जब मैं स्वभाव से अमृत हूं तो यह मृत्यु कैसे घटित होती है? और जब भीतर कोई विकार ही नहीं है, निर्विकार, निराकार का आवास है सदा से, सदैव से, तो ये विकार के बादल कैसे घिर जाते हैं, कहां से इनका जन्म होता है, कहां इनका उद्गम है? इसे समझने के लिए थोड़ी-सी गहराई में जाना पड़ेगा।

पहली बात तो यह समझनी पड़ेगी कि जहां भी चेतना है वहां चेतना की स्वतंत्रताओं में एक स्वतंत्रता यह भी है कि वह अचेतन हो सकेगी। ध्यान रखें, अचेतन का अर्थ जड़ नहीं होता। अचेतन का अर्थ होता है : चेतन, जो कि सो गया—चेतन, कि छिप गया! यह चेतना की ही क्षमता है कि वह अचेतन हो सकती है। जड़ की यह क्षमता नहीं है। आप पत्थर से यह नहीं कह सकते कि तू अचेतन है। जो चेतन नहीं हो सकता वह अचेतन भी नहीं हो सकता। जो जाग नहीं सकता, वह सो भी नहीं सकता।

और ध्यान रखें, जो सो नहीं सकता वह जागेगा कैसे? चेतना की ही क्षमता है अचेतन हो जाना। अचेतन का अर्थ चेतना का नाश नहीं है। अचेतन का अर्थ है : चेतना का प्रसुप्त हो जाना, छिप जाना, अप्रकट हो जाना। चेतना की मालकियत है यह, कि चाहे तो प्रकट हो, चाहे तो अप्रकट हो जाए। यही चेतना का स्वामित्व है—यह कहें, यही चेतना की स्वतंत्रता है। अगर चेतना अचेतन होने को स्वतंत्र न हो तो चेतना परतंत्र हो जाएगी। फिर आत्मा की कोई स्वतंत्रता न होगी।

इसे ऐसे समझें कि अगर आपको बुरे होने की स्वतंत्रता ही न हो तो आपके भले होने का अर्थ क्या होगा? अगर आपको बेईमान होने की स्वतंत्रता ही न हो तो आपके

ईमानदार होने का कोई अर्थ होता है? जब भी हम किसी व्यक्ति को कहते हैं कि वह ईमानदार है तो इसमें निहित है, 'इंप्लाइड' है– कि वह चाहता तो बेईमान हो सकता था, पर नहीं हुआ। अगर हो ही न सकता हो बेईमान, तो ईमानदारी दो कौड़ी की हो जाती है। ईमानदारी का मूल्य बेईमान होने की क्षमता और संभावना में छिपा है।

जीवन के शिखर छूने का मूल्य जीवन की अंधेरी घाटियों में उतरने की क्षमता में छिपा है। स्वर्ग पहुंच जाना इसीलिए संभव है कि नरक की सीढ़ी भी हम पार कर सकते हैं। प्रकाश इसीलिए पाने की क्षमता है कि हम अंधेरे में भी हो सकते हैं। ध्यान रहे, अगर आत्मा के लिए बुरा होने का उपाय ही न हो तो आत्मा के भले होने में बिल्कुल ही नपुंसकता, इंपोटेंसी हो जाएगी। विपरीत की सुविधा होनी चाहिए। और अगर चेतना को भी विपरीत की सुविधा नहीं है तो चेतना गुलाम है। और गुलाम चेतना का क्या अर्थ होता है? उससे तो अचेतन होना, जड़ होना बेहतर है।

यह जो हमारे भीतर छिपा हुआ परमात्मा है, यह परम स्वतंत्र है, 'एब्सल्यूट फ्रीडम' है। इसलिए शैतान होने का उपाय है, और परमात्मा होने की भी सुविधा है। एक छोर से दूसरे छोर तक हम कहीं भी हो सकते हैं। और जहां भी हम हैं वहां होना हमारी मजबूरी नहीं, हमारा निर्णय है–'अवर ओन डिसीजन'! अगर मजबूरी है तो बात खत्म हो गयी।

अगर मैं पापी हूं और पापी होना मेरी मजबूरी है–पापी मुझे परमात्मा ने बनाया है, या मैं पुण्यात्मा हूं और पुण्यात्मा मुझे परमात्मा ने बनाया है तो मैं पत्थर की तरह हो गया, मुझमें चेतना न रही। मैं एक बनायी हुई चीज हो गया, फिर मेरे कृत्य का कोई दायित्व मेरे ऊपर नहीं है।

एक मुसलमान मित्र मुझे मिलने आए थे, कुछ दिन हुए। बहुत समझदार व्यक्ति हैं। वह मुझसे कहने लगे कि मैं बहुत लोगों से मिला हूं, बहुत साधु-संन्यासियों के पास गया हूं, लेकिन कोई हिंदू मुझे यह नहीं समझा सका कि आदमी पाप में क्यों गिरा? –हिंदू, जैन या बौद्ध, इस भूमि पर पैदा हुए तीनों धर्म, यह मानते हैं कि अपने कर्मों के कारण! उस मुसलमान मित्र का पूछना बिल्कुल ठीक था। वह कहने लगे, अगर अपने कर्मों के कारण गिरा तो पहले जन्म में जब उसकी शुरूआत ही हुई होगी तब तो उसके पहले कोई कर्म नहीं थे।

ठीक है, जब पहला ही जन्म हुआ होगा चेतना का तब तो वह निष्कपट, शुद्ध हुई होगी। उसके पहले तो कोई कर्म नहीं थे। इस जन्म में हम कहते हैं कि फलां आदमी बुरा है क्योंकि पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। पिछले जन्म में बुरे कर्म किए क्योंकि और पिछले जन्म में बुरे कर्म किए। लेकिन कोई प्रथम जन्म तो मानना ही पड़ेगा। उस प्रथम जन्म के पहले तो कोई बुरे कर्म नहीं हुए, तो बुरे कर्म आ कैसे गए?

मैंने उन मुसलमान मित्र से कहा–कि यह बात बिल्कुल तर्कयुक्त है। लेकिन क्या इस्लाम और ईसाइयत जो उत्तर देते हैं उन पर आपने विचार किया? उन्होंने कहा, वह ज्यादा ठीक मालूम पड़ता है कि ईश्वर ने आदमी को बनाया, जैसा चाहा वैसा ब

नाया। तो मैंने कहा—यही थोड़ी-सी बात समझनी है। इस देश में पैदा हुआ कोई भी धर्म जिम्मेदारी ईश्वर पर नहीं डालना चाहता, मनुष्य पर डालना चाहता है। यह मनुष्य की गरिमा की स्वीकृति है। 'रिस्पांसिबिलिटी इज ऑन मैन, नाट ऑन गॉड।' ध्यान रहे, गरिमा तभी है जब दायित्व हो। अगर दायित्व भी नहीं है—अगर मैं बुरा हूं तो परमात्मा ने बनाया, भला हूं तो परमात्मा ने बनाया—जैसा हूं, परमात्मा ने बनाया तो सारी जिम्मेवारी परमात्मा की हो जाती है। और तब और भी उलझन ख. डी होगी कि परमात्मा को बुरा आदमी बनाने में क्या रस हो सकता है? और परमा त्मा ही अगर बुरा बनाता है तो हमारी अच्छे बनने की कोशिश परमात्मा के खिला फ पड़ती है।

इसका अर्थ यह हुआ कि परमात्मा तो आदमी बुरा बनाता है, और तथाकथित साधु -संन्यासी आदमी को अच्छा बनाते हैं—यह तो बड़ी मुश्किल है! गुरजिएफ कहा करत ा था कि दुनिया के सब महात्मा परमात्मा के खिलाफ मालूम पड़ते हैं, दुश्मन मालू म पड़ते हैं। वह आदमी को बुरा बनाता है या जैसा भी बनाता है, फिर आप कौन हैं सुधारनेवाले? कर्म का सिद्धांत कहता है, व्यक्ति पर जिम्मेवारी है लेकिन व्यक्ति पर जिम्मेवारी तभी हो सकती है जब व्यक्ति स्वतंत्र हो।

स्वतंत्रता के साथ दायित्व है—'फ्रीडम इंप्लाइज द रिस्पांसिबिलिटी।' अगर स्वतंत्रता नहीं है तो दायित्व बिल्कुल नहीं है। अगर स्वतंत्रता है तो दायित्व है। लेकिन स्वतंत्र ता सब द्वयमुखी है। दोनों तरफ की स्वतंत्रता ही स्वतंत्रता होती है।

मुल्ला नसरुद्दीन ने अपने बेटे से कहा है—जब बेटा बड़ा हो गया, कि तिजोरी तेरी है , चाभी-भर मेरे पास रहेगी। ऐसे तू जितना खर्च करना चाहे, खर्च कर सकता है ले किन ताला-भर मत खोलना! स्वतंत्रता पूरी दी जा रही मालूम पड़ती है, और जरा भी नहीं दी जाती।

मैंने एक मजाक सुना है कि जब पहली दफा फोर्ड ने कारें बनायीं अमरीका में तो ए क ही रंग की बनायीं, काले रंग की। और फोर्ड ने, अपनी फैक्ट्री के दरवाजे पर ए क वचन लिख छोड़ा था—'यू कैन चूज ऐनी कलर प्रोवाइडेड इट इज ब्लैक'—आप क ोई भी रंग चुन सकते हैं, अगर वह काला है तो! काले रंग की कुल गाड़ियां ही थीं , कोई दूसरे रंग की तो गाड़ियां थीं नहीं। लेकिन स्वतंत्रता पूरी थी, आप कोई भी रंग चुन लें, बस काला होना चाहिए—इतनी शर्त थी पीछे।

अगर आदमी से परमात्मा यह कहे कि 'यू आर फ्री प्रोवाइडेड यू आर गुड'—आप स्वतंत्र हैं, अगर आप अच्छे होना चाहते हैं— तो ही, तो स्वतंत्रता दो कौड़ी की हो गयी! स्वतंत्रता का अर्थ ही यही होता है कि हम बुरे होने के लिए भी स्वतंत्र हैं। अ ौर जब स्वतंत्रता हो तभी दायित्व है। तब फिर जिम्मा मेरा है, अगर मैं बुरा हूं तो मैं जिम्मेवार हूं। और अगर भला हूं तो मैं जिम्मेवार हो जाता हूं। जिम्मेवारी मुझ पर पड़ जाती है।

फिर भारत यह भी कहता है कि परमात्मा हमसे बाहर नहीं है। वह हमारे भीतर ि छपा है। इसलिए हमारी स्वतंत्रता अंततः उसकी ही स्वतंत्रता! इसे और समझ लेना

चाहिए। क्योंकि परमात्मा अगर बाहर बैठा हो हमसे, और हमसे कहे कि 'आई गिव यू फ्रीडम', मैं तुम्हें स्वतंत्रता देता हूं तो भी वह परतंत्रता हो जाएगी। क्योंकि वह किसी भी दिन 'कैंसिल' कर सकता है। वह किसी भी दिन कह देगा, अच्छा, बस—अब बंद! इरादा बदल दिया, अब स्वतंत्रता नहीं देते!

तो हम क्या करेंगे?—नहीं, स्वतंत्रता आत्यंतिक है, अल्टीमेट है, क्योंकि देनेवाला और लेनेवाला दो नहीं हैं। हमारे ही भीतर बैठी हुई चेतना परम स्वतंत्र है क्योंकि वही परमात्मा है। वह जो अंतरस्थ आकाश है वही परमात्मा है। और परमात्मा को भी अगर बुरे होने की सुविधा न हो तो वह परमात्मा की परतंत्रता के अतिरिक्त और क्या घोषणा होगी? इसलिए मन पैदा हो सकता है। वह हमारा पैदा किया हुआ है। वह परमात्मा का पैदा किया हुआ है।

एक और बात खयाल में ले लेनी जरूरी है कि जीवन के प्रगाढ़ अनुभव के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य हो जाता है। प्रौढ़ता के लिए, मेच्योरिटी के लिए विपरीत में उतर जाना अनिवार्य हो जाता है। जिसने दुःख नहीं जाना वह सुख कभी जान नहीं पाता। जिसने अशांति नहीं जानी वह शांति भी कभी नहीं जान पाता, और जिसने संसार नहीं जाना वह स्वयं परमात्मा होते हुए भी परमात्मा को नहीं जान पाता।

परमात्मा की पहचान के लिए संसार की यात्रा पर जाना अनिवार्य है। उससे कोई बचाव नहीं है। और जो जितना गहरा संसार में उतर जाता है उतना ही गहन परमात्मा के स्वरूप को अनुभव कर पाता है। उस उतरने का भी प्रयोजन है। कोई चीज जो हमारे पास सदा से हो, उसका हमें तब तक पता नहीं चलता, जब तक वह खो न जाए। खोने पर ही पता चलता है कि मेरे पास कुछ था, इसका अनुभव भी खोने पर होता है। खोना भी पाने की प्रक्रिया का हिस्सा है। खोना भी, ठीक से पाने का उपाय है। खोना भी पाने की क्रिया का अनिवार्य अंग है।

हमारे बीच छिपा है, उसे अगर हमें ठीक-ठीक अनुभव करना हो तो हमें उसे खोने की ही यात्रा पर जाना पड़ता है। कहते हैं लोग कि जब तक कोई परदेस नहीं जाता तब तक अपने देश को नहीं पहचान पाता। वे ठीक कहते हैं। और कहते हैं कि जब तक कोई दूसरों से परिचित नहीं होता तब तक अपने से परिचित नहीं हो पाता। 'ईवन द वे टु वनसेल्फ पासेस थ्रू द अदर।' सार्त्र का बहुत प्रसिद्ध वचन है कि दूसरे को जाने बिना स्वयं को जानने का कोई उपाय नहीं। दूसरे से गुजरना पड़ता है स्वयं की पहचान के लिए—क्यों? क्योंकि जब तक विपरीत का अनुभव न हो तब तक अनुभव ही नहीं है।

जैसे शिक्षक काले ब्लैक बोर्ड पर सफेद खड़िया से लिखता है, वैसे वह दीवार पर भी लिख सकता है, लिखने में कोई अड़चन नहीं है। लेकिन तब दिखाई नहीं पड़ेगा। लिखा भी जाएगा और दिखायी भी नहीं पड़ेगा। लिखा तो जाएगा, पढ़ा नहीं जा सकेगा। और ऐसे लिखने का क्या प्रयोजन, जो पढ़ा न जा सके?

सुना है मैंने, एक आदमी सुबह-सुबह मुल्ला नसरुद्दीन के द्वार पर आया। गांव में अकेला ही पढ़ा-लिखा आदमी था नसरुद्दीन, और जहां एक ही आदमी पढ़ा-लिखा हो तो समझ लेना चाहिए, पढ़ा-लिखा कितना होगा! उस आदमी ने कहा, जरा एक चिट्ठी लिख दो, मुल्ला! मुल्ला ने कहा, मेरे पैर में बहुत दर्द है, मैं न लिख सकूंगा। उस आदमी ने कहा, हद हो गई! कभी हमने सुना नहीं कि लोग पैर से चिट्ठी लिखते हैं। हाथ से लिखो चिट्ठी, पैर में दर्द है तो पैर से क्या वास्ता? हाथ में क्या अड़चन है? नसरुद्दीन ने कहा, यह जरा रहस्य की बात है, यह न पूछो तो अच्छा! चिट्ठी हम न लिखेंगे, पैर में बहुत तकलीफ है।

उस आदमी ने कहा, जरा रहस्य ही बता दें। बात क्या है, मेरी समझ में नहीं आती? नसरुद्दीन ने कहा, बात यह है कि हमारी लिखी चिट्ठी हमारे सिवाय और कोई नहीं पढ़ पाता। फिर दूसरे गांव की यात्रा करने की अभी हमारी हैसियत नहीं, पैर में तकलीफ बहुत है, नसरुद्दीन ने कहा! जो पढ़ा ही न जा सके उसके लिखने का क्या फायदा?

इसलिए काले ब्लैक बोर्ड पर लिखना पड़ता है। उस पर दिखाई पड़ता है। आकाश पर जब काले बादल होते हैं तो दिखायी पड़ती है बिजली कौंधती हुई। भीतर जो छिपा है परमात्मा उसके अनुभव के लिए पदार्थ की गहनता में उतरना अनिवार्य है। संन्यास को भी जानने के लिए गृहस्थ हुए बिना कोई मार्ग नहीं। ●●त्र!इ्ड●●●●त्र!इ्इ१ ४इ१०●●

सत्य को भी जानने के लिए असत्य के रास्तों से गुजरना पड़ता है। और इसकी जब कोई अनिवार्यता समझता है और इस रहस्य को समझ जाता है तो फिर जिस असत्य से गुजरा, उसके प्रति भी धन्यवाद मन में उठता है। क्योंकि उसके बिना सत्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था।

जिस पाप से गुजरकर पुण्य तक पहुंचे उस पाप की भी अनुकंपा ही मालूम होती है, क्योंकि उसके बिना पुण्य तक नहीं पहुंचा जा सकता था।

बोधिधर्म ने कहा है, और बोधिधर्म इस पृथ्वी पर दस-पांच लोगों में एक है जिसने गहनतम सत्य के अनुभव को जाना। बोधिधर्म ने कहा है मरने के क्षण में, कि संसार, तेरा धन्यवाद! क्योंकि तेरे बिना निर्वाण को जानने का कोई उपाय नहीं। शरीर, तुझे धन्यवाद! क्योंकि तेरे बिना आत्मा को पहचानने की सुविधा भी नहीं। सब पापो, तुम्हारी अनुकंपा मुझ पर! क्योंकि तुमसे गुजरकर मैं पुण्य के शिखर तक पहुंचा, तुम सीढ़ियां थे।

तब जीवन विपरीत रहकर भी विपरीत नहीं रह जाता। तब जीवन विपरीत होकर भी एकरस हो जाता है। और विपरीत में भी एक हार्मनी और एक संगीत उत्पन्न हो जाता है। संगीत पैदा होता है विभिन्न स्वरों से। और अगर संगीत के किसी स्वर को बहुत उभारना हो तो उसके पहले भी बहुत धीमे स्वर पैदा करने पड़ते हैं--तब उभरता है संगीत!

सब अभिव्यक्ति विपरीत के साथ है। इसलिए चेतना मन को पैदा करती है। यह चेतना का ही काम है। चेतना ही बाहर जाती है। और बाहर ही भटक-भटककर उसे पता चलता है कि बाहर कुछ नहीं है। तब चेतना भीतर वापस आती है। ध्यान रहे, जो चेतना कभी बाहर नहीं गयी उस चेतना में, और जो चेतना बाहर भटककर भीतर आती है उस चेतना में, रिचनेस का, समृद्धि का बहुत फर्क है।

इसलिए जब पापी कभी पुण्यात्मा होता है तो उसके पुण्य की जो गहराई होती है वह साधारण आदमी के पुण्य की गहराई नहीं होती, जो कभी पापी नहीं हुआ। क्योंकि पापी बहुत जानकर पुण्य तक पहुंचता है।

मनोवैज्ञानिक कहते हैं, अच्छे आदमी की कोई जिंदगी नहीं होती।अगर आप नाटककारों से पूछें, उपन्यासकारों से पूछें, फिल्म-कथा लिखनेवालों से पूछें तो वे कहेंगे कि अच्छे आदमी पर तो कोई कथा ही नहीं लिखी जा सकती। अगर आदमी बिल्कुल अच्छा हो तो कोरा- सपाट होता है।

रामायण में से राम को छोड़ने में बहुत असुविधा नहीं, रावण को छोड़ने में सब कथा गड़बड़ हो जाती है। क्योंकि राम के बिना चल सकता है, रावण के बिना नहीं चल सकता। कोई कितना ही कहे कि राम नायक है—जो कथा लिखना जानते हैं वे कहेंगे, रावण नायक है, क्योंकि सारी कथा उसके इर्द-गिर्द घूमती है। और अगर राम भी प्रखर होकर प्रकट होते हैं तो रावण के सहारे, रावण के कंधे पर। रावण के बिना राम भी सफेद दीवार पर खींची गयी सफेद रेखा हो जाएंगे, काला ब्लैक बोर्ड तो रावण है।

स्कूल में शिक्षक जब काले बोर्ड पर लिखता है तो बच्चे ब्लैक-बोर्ड का विरोध नहीं करते। वे जानते हैं कि सफेद रेखा उसी पर उभरती है। लेकिन जब रावण के ब्लैक बोर्ड पर राम उभरते हैं तो हम नासमझ विरोध करते हैं कि रावण नहीं होना चाहिए। रावण दुनिया से मिटा दो। जिस दिन आप रावण को दुनिया से मिटा देंगे उस दिन राम भी तिरोहित हो जाएंगे—वह कहीं खोजे से नहीं मिलेंगे।

जीवन विपरीत स्वरों के बीच एक सामंजस्य है। चेतना ही पैदा करती है मन को। चेतना ही विचार को पैदा करती है, ताकि निर्विचार को जान सके। परमात्मा ही संसार को बनाता है, ताकि स्वयं को अनुभव कर सके। यह आत्म-अन्वेषण की यात्रा है, इसमें भटकना जरूरी है।

एक कहानी मैं निरंतर कहता रहा हूं। एक गांव के बाहर उतरा एक आदमी अपने घोड़े से। झाड़ के पास बैठे नसरुद्दीन के सामने उसने झोली पटकी और कहा कि करोड़ों के हीरे-जवाहरात इस झोली में हैं। इसे मैं लेकर घूम रहा हूं गांव-गांव। मुझे कोई रत्तीभर भी सुख दे दे तो मैं ये सब हीरे उसे सौंप दूं, लेकिन अब तक मुझे कोई रत्तीभर सुख नहीं दे पाया।

नसरुद्दीन ने पूछा, तुम बहुत दुःखी हो? उसने कहा, मुझसे ज्यादा दुःखी कोई नहीं हो सकता। तभी तो मैं रत्तीभर सुख के लिए करोड़ों के हीरे देने को तैयार हूं। नसरुद्दीन ने कहा, तुम ठीक जगह आ गए हो—बैठो! वह जब तक बैठा तब तक नसरुद्दी

न उसकी थैली लेकर भाग खड़ा हुआ। वह आदमी स्वभावतः नसरुद्दीन के पीछे भागा कि मैं मर गया, मैं मर गया! यह आदमी डाकू है, यह लुटेरा है! गांव के गली-कूचे नसरुद्दीन के परिचित थे। उसने काफी चक्कर खिलाए। पूरा गांव जाग गया। सारा गांव दौड़ने लगा।

करोड़ों का मामला था। नसरुद्दीन आगे और वह धनपति पीछे छाती पीटता हुआ जोर-जोर से चिल्ला रहा है कि मेरी जिंदगीभर की कमाई वही है। मैं सुख खोजने निकला हूं और यह दुष्ट मुझे और दुःख दिए दे रहा है।

भागकर नसरुद्दीन उसी झाड़ के पास पहुंच गया जहां उसका घोड़ा खड़ा था। उसने झोला घोड़े के पास रख दिया और झाड़ के पीछे खड़ा हो गया। दो क्षण बाद अमीर भी भागा हुआ पहुंचा, अमीर ने झोला पड़ा हुआ देखा, उठाकर छाती से लगा लिया और कहा, हे परमात्मा! तेरा बड़ा धन्यवाद!

नसरुद्दीन ने झाड़ के पीछे से पूछा, कुछ सुख मिला?—पाने के लिए खोना जरूरी है! उस आदमी ने कहा, कुछ? कुछ नहीं, बहुत मिला! इतना सुख मैंने जीवन में जाना ही नहीं। नसरुद्दीन ने कहा, अब तू जा, नहीं तो इससे ज्यादा अगर मैं सुख दूंगा तो तू मुसीबत में पड़ सकता है।

बहुत बार खोना बहुत जरूरी है। सवाल यह नहीं है कि हमने क्यों अपने को खोया? असली सवाल यह है कि या तो हमने पूरा अपने को नहीं खोया, या हम खोने के इतने अभ्यासी हो गए कि लौटने के सब रास्ते टूट गए मालूम पड़ते हैं। खोना अनिवार्य है। पर सवाल यह है कि कब तक हम खोए रहेंगे?

इसलिए बुद्ध से अगर कोई पूछता था कि यह आदमी अंधकार में क्यों गिरा? तो बुद्ध कहते हैं, व्यर्थ की बातें मत करो। अगर पूछना हो तो यह पूछो कि अंधकार के बाहर कैसे जाया जा सकता है? यह सवाल संगत है, दूसरा असंगत है। बेकार की बातचीत में मुझे मत खींचो कि यह आदमी अंधकार में क्यों गिरा? वह तुम बाद में खोज लेना। अभी तुम मुझसे यह पूछ लो कि प्रकाश कैसे मिल सकता है?

बुद्ध कहते हैं कि तुम उस आदमी जैसे हो जिसकी छाती में जहरीला तीर घुसा हो। मैं उसकी छाती से तीर खींचने लगूं तो वह आदमी कहे कि रुको, पहले यह बताओ कि यह तीर किसने मारा? पहले यह बताओ कि यह तीर पूरब से आया कि पश्चिम से? पहले यह बताओ कि यह तीर जहर बुझा है या साधारण है?

बुद्ध कहते है, मैं उस आदमी से कहता कि यह सब तुम पीछे पता लगा लेना, अभी मैं तीर को खींचकर बाहर निकाल दे रहा हूं। लेकिन वह आदमी कहता है कि जब तक जानकारी पूरी न हो, तब तक कुछ भी करना क्या उचित है?

यह फिक्र मत करें कि मन कैसे पैदा हुआ? यह फिक्र करें कि मन कैसे विसर्जित हो सकता है। और ध्यान रहे, बिना विसर्जन किए आपको कभी पता न चलेगा कि कैसे इसका सर्जन किया? उसके कारण हैं। क्योंकि सर्जन किए अनंत काल बीत गया। इस स्मृति को खोजना आज आपके लिए आसान नहीं होगा । उसका भी रास्ता है।

अगर आप लौटें अपने पिछले जन्मों में —लौटते जाएं—लौटते जाएं . . . आदमी के जन्म चुक जाएंगे। पशुओं के जन्म होंगे, पशुओं के जन्म चुक जाएंगे। कीड़े-मकोड़ों के जन्म होंगे, कीड़े-मकोड़ों के जन्म चुक जाएंगे। पौधों के जन्म होंगे, पौधों के जन्म चुक जाएंगे। पत्थरों के जन्म होंगे—लौटते जाएं उस जगह, जहां पहले दिन आपकी चेतना सक्रिय हुई और मन का निर्माण शुरू हुआ!

लेकिन वह बड़ी लंबी यात्रा है। उसमें मत पड़ें कि यह मन कैसे बना? हां, लेकिन एक सरल उपाय है कि इस मन को विसर्जित करें। और विसर्जन को आप अभी देख सकते हैं। जब आप विसर्जन को देख लेंगे तो आप जान जाएंगे कि विसर्जन की जो प्रक्रिया है उसमें उल्टी प्रक्रिया सर्जन की है।

बुद्ध एक दिन अपने भिक्षुओं के बीच सुबह जब बोलने गए तो उनके हाथ में एक रेशम का रूमाल था। बैठकर उन्होंने उस पर पांच गांठें लगायीं! भिक्षु बड़े चिंतित हुए क्योंकि बुद्ध कभी कुछ लेकर हाथ में आते न थे। रेशम का रूमाल क्यों ले आए और फिर बोलने की जगह बैठकर उस पर गांठें लगाने लगे। बड़ी उत्सुकता, बड़ी आतुरता हो गई! क्या कोई जादू दिखाने का खयाल है? क्योंकि जादूगर रूमाल वगैरह लेकर आते हैं। लेकिन बुद्ध ने शांति से, सन्नाटे में रूमाल में पांच गांठें लगा लीं!

और फिर बोले—भिक्षुओं, इस रूमाल में गांठें लग गयीं। मैं तुमसे दो सवाल पूछना चाहता हूं। एक तो यह कि जब रूमाल में गांठें नहीं लगी थीं तब के रूमाल में, और जब रूमाल में गांठें लग गई हैं, अब के रूमाल में क्या कोई फर्क है, स्वरूपगत?

एक भिक्षु ने कहा, स्वरूपगत तो फर्क बिल्कुल नहीं है, रूमाल वही है। जरा भी, इंचभर भी रूमाल के स्वरूप में फर्क नहीं है लेकिन आप हमें फंसाने की कोशिश कर रहे हैं। फर्क हो गया, क्योंकि तब रूमाल में गांठें न थीं और अब गांठें हैं। लेकिन यह फर्क बहुत ऊपरी है, क्योंकि गांठें रूमाल के स्वभाव पर नहीं लगतीं, केवल शरीर पर लगती हैं।

संसार और निर्वाण में इतना ही फर्क है। निर्वाण में भी वही स्वरूप होता है जो संसार में है। सिर्फ संसार में रूमाल पर पांच गांठें हैं। बुद्ध ने कहा कि भिक्षुओ, यह जो रूमाल है गांठ लगा हुआ, ऐसे ही तुम हो। तुममें और मुझमें बहुत फर्क नहीं—स्वरूप एक जैसा है, सिर्फ तुम पर कुछ गांठें लगी हैं।

बुद्ध ने कहा, इन गांठों को मैं खोलना चाहता हूं। और उस रूमाल को पकड़कर बुद्ध ने खींचा। स्वभावतः खींचने से गांठें और मजबूत हो गयीं। एक भिक्षु ने कहा, आप जो कर रहे हैं, इससे गांठें खुलेंगी नहीं, खुलना मुश्किल हो जाएगा।

बुद्ध ने कहा, तो इसका यह अर्थ हुआ कि जब तक गांठों को ठीक से न समझ लिया जाए तब तक खींचना खतरनाक है। हम सब गांठों को खींच रहे हैं बिना समझे, कि गांठ कैसे लगी हैं? एक भिक्षु से बुद्ध ने पूछा, तो मैं क्या करूं? उस भिक्षु ने कहा, जानना जरूरी है कि गांठ कैसे लगी? गांठ खोली जा सकती है, क्योंकि लगने का जो ढंग है उससे विपरीत खुलने का ढंग होगा।

बुद्ध ने कहा, गांठें अभी लगी हैं, इसलिए तुम्हारे खयाल में है कि कैसे लगीं, लेकिन गांठें अगर बहुत काल पहले लगी होतीं तो तुम कैसे पता लगाते कि गांठें कैसे लगीं? उस भिक्षु ने कहा, तब तो हम खोलकर ही पता लगाते। खोलने से पता लग जाएगा। क्योंकि खोलने का जो ढंग है उसका उल्टा ढंग लगने का होगा। तो आप इस फिक्र में न पड़ें कि यह मन कैसे पैदा हुआ? आप इस फिक्र में पड़ें कि यह मन कैसे चला जाए? और जिस क्षण चला जाएगा उस दिन आप जानेंगे, उसी क्षण कि कैसे पैदा हुआ था? जो विसर्जन करता है वही सर्जन करनेवाला है और जो विसर्जन कर सकता है वह सर्जन भी कर सकता था। विसर्जन की जो प्रक्रिया है, उससे उल्टी प्रक्रिया सर्जन की है।

भीतर का जो आकाश है वह बादल-रहित, मेघ-रहित, विचार-रहित, मन-रहित है। बाहर के आकाश का तभी पता चलता है जब आकाश में बादल घिर जाते हैं, पर तब बादलों का पता चलता है, आकाश का पता नहीं चलता—हालांकि आकाश मिट नहीं गया होता, सदा बादलों के पीछे खड़ा रहता है। और बादल भी आकाश में ही होते हैं, आकाश के बिना नहीं हो सकते। इसी भांति विचारों से, मन से घिरे हुए भीतर के आकाश का भी पता नहीं चलता।

ह्यम ने कहा है, ये बातें सुनकर कि भीतर भी कोई है, मैं बहुत बार खोजने गया; लेकिन जब भी भीतर गया तो मुझे कोई आत्मा न मिली, कोई परमात्मा न मिला। या तो कभी कोई विचार मिला, कोई वासना मिली, कोई वृत्ति मिली, या कोई राग मिला; लेकिन आत्मा कभी भी न मिली। वह ठीक कहता है।

अगर आप अपने हवाई जहाज को उड़ाएं, या अपने को फैलाएं आकाश की तरफ—बदलियां आपको मिलें और बदलियों को ही खोज करके आप वापस लौट आएं, बदलियों को पार न करें, तो लौटकर आप भी कहेंगे—कोई आकाश भी न मिला! बदलियां ही बदलियां थीं, धुआं ही धुआं था, बादल ही बादल थे, कहीं कोई आकाश न था! अपने भीतर भी हम सिर्फ बदलियों तक जाकर लौट आते हैं। उनके पार प्रवेश नहीं हो पाता। पार जाने की उड़ान ऐसी ही है—जैसे आप कभी हवाई जहाज पर उड़े हों, बादलों के पार और ऊपर, और जब बादल नीचे छूट जाते हैं!

वैसे ही ध्यान में भी एक उड़ान होती है जब विचार नीचे छूट जाते हैं और आप ऊपर हो जाते हैं। तब खुला आकाश मिलता है! तब अंतर-आकाश से परिचय होता है!! तब सर्जन-विसर्जन के सारे भेद को आप जान पाते हैं!!!

जो बोएंगे बीज वही काटेंगे फसल

किसे हम कहें कि अपना मित्र है और किसे हम कहें कि अपना शत्रु है। एक छोटी-सी परिभाषा निर्मित की जा सकती है। हम ऐसा कुछ भी करते हों, जिससे दुःख फलित होता है तो हम अपने मित्र नहीं कहे जा सकते। स्वयं के लिए दुःख के बीज बोनेवाला व्यक्ति अपना शत्रु है। और हम सब स्वयं के लिए दुःख का बीज बोते हैं। नि

श्चित ही बीज बोने में और फसल काटने में बहुत वक्त लग जाता है, इसलिए हमें याद भी नहीं रहता कि हम अपने ही बीजों के साथ की गई मेहनत की फसल काट रहे हैं। अक्सर फासला इतना हो जाता है कि हम सोचते हैं, बीज तो हमने बोए थे अमृत के, न मालूम कैसा दुर्भाग्य –कि फल जहर के और विष के उपलब्ध हुए हैं!

लेकिन इस जगत् में जो हम बोते हैं उसके अतिरिक्त हमें कुछ भी न मिलता है, न मिलने का कोई उपाय है। हम वही पाते हैं, जो हम अपने को निर्मित करते हैं। हम वही पाते हैं, जिसकी हम तैयारी करते हैं। हम वहीं पहुंचते हैं जहां की हम यात्रा करते हैं। हम वहां नहीं पहुंचते जहां की हमने यात्रा ही न की हो। यद्यपि हो सकता है, यात्रा करते समय हमने अपने मन में कल्पना की मंजिल कोई और बनाई हो।

रास्ते को कोई इससे प्रयोजन नहीं है। मैं नदी की तरफ नहीं जा रहा हूं। मन में सोचता हूं कि नदी की तरफ जा रहा हूं, लेकिन बाजार की तरफ जानेवाले रास्ते पर चलूंगा तो मैं कितना ही सोचूं कि मैं नदी की तरफ जा रहा हूं, मैं पहुंचूंगा बाजार ही। सोचने से नहीं पहुंचता है आदमी। किन रास्तों पर चलता है उनसे पहुंचता है। मंजिलें मन में तय नहीं होतीं, रास्ते पर तय होती हैं।

आप कोई भी सपना देखते रहें, अगर बीज आपने नीम के बो दिए हैं तो सपने आप शायद ले रहे हों कि कोई स्वादिष्ट मधुर फल लगेंगे–आपके सपनों से फल नहीं निकलते! फल आपके बोए बीजों से निकलते हैं। इसलिए आखिर में जब नीम के कड़वे फल हाथ में आते हैं तो शायद आप दुःखी होते हैं, पछताते हैं और सोचते हैं कि मैंने तो बीज बोए थे अमृत के, फल कड़वे कैसे आए?

ध्यान रहे, फल ही कसौटी है और परीक्षा है बीज की। फल ही बताता है कि बीज आपने कैसे बोए थे? आपने कल्पना क्या की थी, उससे बीजों को कोई प्रयोजन नहीं है।

हम सभी आनंद लाना चाहते हैं जीवन में, लेकिन आता कहां है आनंद? हम सभी शांति चाहते हैं जीवन में, लेकिन मिलती कहां है शांति! हम सभी चाहते हैं कि सुख, महासुख ही बरसे, पर बरसता कभी नहीं। तो इस संबंध में एक बात इस सूत्र से समझ लेनी जरूरी है कि हमारी चाह से नहीं आते फल। हम जो बोते हैं उससे आते हैं। हम चाहते कुछ हैं, बोते कुछ हैं। हम बोते जहर हैं और चाहते अमृत हैं। इसलिए जब फल आते है तो जहर के ही आते हैं, दुःख और पीड़ा के ही आते हैं–नरक ही फलित होता है।

हम सब अपने जीवन को देखें तो खयाल में आ सकता है। जीवनभर चलकर हम सिवाय दुःख के गड्ढों के और कहीं भी पहुंचते नहीं मालूम पड़ते हैं। रोज दुःख घना होता चला जाता है। रोज रात कटती नहीं, और बड़ी होती चली जाती है। रोज मन पर संताप के कांटे फैलते चले जाते हैं और फूल आनंद के कहीं खिलते हुए मालूम नहीं पड़ते। पैरों में पत्थर बंध जाते हैं दुःख के।

पैर नृत्य नहीं कर पाते हैं उस खुशी में, जिस खुशी की हम तलाश में हैं। क्योंकि कहीं न कहीं हम, हम ही—क्योंकि और कोई नहीं है—कुछ गलत बो लेते हैं। उस ग लत बोने में ही हम अपने शत्रु सिद्ध होते हैं।

बहुत हैरानी की बात है, एक आदमी क्रोध के बीज बोए और शांति पाना चाहे! ए क आदमी घृणा के बीज बोए और प्रेम की फसल काटना चाहे! आदमी चारों तरफ शत्रुता फैलाए और चाहे कि सारे लोग उसके मित्र हो जाएं! एक आदमी सबकी तर फ गालियां फेंके और चाहे कि शुभाशीष सारे आकाश से उसके ऊपर बरसने लगें! यह असंभव है। पर आदमी ऐसी ही असंभव चाह करता है।

'द इंपोसिबल डिजायर'—मैं गाली दूं और दूसरा मुझे आदर दे जाए, ऐसी असंभव क ामना —हमारे मन में चलती है। मैं दूसरे को घृणा करूं और दूसरे मुझे प्रेम कर जा एं। मैं किसी पर भरोसा न करूं और सब मुझ पर भरोसा कर लें। मैं सबको धोखा दूं और मुझे कोई धोखा न दे। मैं सबको दुःख पहुंचाऊं, लेकिन मुझे कोई दुःख न प हुंचाए।

जो हम बोएंगे, वही हम पर लौटने लगेगा। जीवन का सूत्र ही यह है कि जो हम फें कते हैं वही हम पर वापस लौट आता है।

चारों ओर हमारी ही फेंकी हुई ध्वनियां प्रतिध्वनित होकर हमें मिल जाती हैं। थोड़ी देर अवश्य लगती है। ध्वनि टकराती है बाहर की दिशाओं से, और लौट आती है। जब तक लौटती है तब तक हमें खयाल भी नहीं रह जाता कि हमने जो गाली फें की थी वही वापस लौट रही है।

बुद्ध का एक शिष्य एक रास्ते से गुजर रहा है। उसके साथ दस-पंद्रह संन्यासी हैं। ज ोर से पैर में उसके पत्थर लग जाता है रास्ते पर, खून बहने लगता है। शिष्य आका श की तरफ हाथ जोड़कर किसी आनंद-भाव में लीन हो जाता है। उसके साथी वे पं द्रह भिक्षु हैरानी में खड़े रह जाते हैं! शिष्य जब अपने ध्यान से वापस लौटता है तब उससे पूछते हैं कि आप क्या कर रहे थे! पैर में चोट लगी, पत्थर लगा, खून और आप कुछ इस प्रकार हाथ जोड़े हुए थे जैसे किसी को धन्यवाद दे रहे हों।

शिष्य ने कहा, बस यह एक मेरा विष का बीज और बाकी रह गया था। मारा था ि कसी को पत्थर कभी, आज उससे छुटकारा हो गया। आज नमस्कार करके धन्यवाद दे दिया है प्रभु को, कि अब मेरे बोए हुए बीज कुछ भी न बचे। यह आखिरी फस ल समाप्त हो गयी।

लेकिन अगर आपको रास्ते पर चलते वक्त पत्थर पैर में लग जाए तो इसकी बहुत कम संभावना है कि आप ऐसा सोचें कि किसी बोए हुए बीज का फल हो सकता है। ऐसा नहीं सोच पाएंगे। संभावना यही है कि रास्ते पर पड़े हुए पत्थर को भी आप एक गाली जरूर देंगे। पत्थर को भी गाली, और कभी खयाल भी न करेंगे कि पत्थ र को दी गयी गाली, फिर बीज बो रहे हैं आप! पत्थर को दी हुई गाली भी बीज बनेगी। सवाल यह नहीं है कि किसको गाली दी। सवाल यह है कि आपने गाली दी , वह वापस लौटेगी।

सुना है मैंने कि गांव का साधारण ग्रामीण किसान बैलों को गाली देने में बहुत ही कुशल है, अपनी बैलगाड़ी में जोतकर। जीसस निकलते हैं गांव के रास्ते से। वह आदमी अपने बैलों को बेहूदी गालियां दे रहा है। बड़े आंतरिक संबंध बना रहा है गालियों से। जीसस उसे रोकते हैं और कहते हैं, पागल, तू यह क्या कर रहा है? वह आदमी कहता है कि कोई बैल मुझे गाली वापस तो नहीं लौटा देंगे, मेरा क्या बिगड़ेगा! वह आदमी ठीक कहता है। हमारा गणित बिल्कुल ऐसा ही है।

जो आदमी गाली वापस नहीं लौटा सकता उसे गाली देने में हर्ज क्या है? इसलिए अपने से कमजोर को देखकर हम सब गाली देते हैं। हम बेवक्त गाली देते हैं, जब कोई जरूरत भी न हो। कमजोर दिखा कि हमारा दिल मचलता है कि थोड़ा इसको सता लो।

जीसस ने कहा, बैलों को गाली तू दे रहा है, अगर वे गाली लौटा सकते तो कम खतरा था, क्योंकि निपटारा अभी हो जाता। लेकिन चूंकि वे गाली नहीं लौटा सकते, लेकिन गाली तो लौटेगी। तू महंगे सौदे में पड़ेगा। यह गाली देना छोड़! जीसस की तरफ उस आदमी ने देखा, जीसस की आंखों को देखा, उनके आनंद को, उनकी शांति को देखा। उसने उनके पैर छुए और कहा कि मैं कसम लेता हूं, इन बैलों को गाली नहीं दूंगा।

जीसस दूसरे गांव चले गए। दो-चार दिन आदमी ने बड़ी मेहनत से अपने को रोका, लेकिन कसमों से दुनिया में कोई रुकावटें नहीं होतीं। रुकावट होती है, समझ से! दो-चार दिन में प्रभाव क्षीण हुआ। वह आदमी अपनी जगह वापस लौट आया। उसने कहा, छोड़ो भी, ऐसे तो हम मुसीबत में पड़ जाएंगे। बैलगाड़ी से आना मुश्किल हो गया। हिसाब बैलगाड़ी चलाने का रखें कि गाली न देने का रखें। बैलों को जोतें कि अपने को जोते रहें। बैलों को संभालें कि खुद को संभालें। यह तो एक मुसीबत हो गयी।

गाली उसने वापस देनी शुरू कर दी। चार दिन जितनी रोकी थी उतनी एक दिन में निकाल लीं। रफा-दफा हुआ, मामला हल्का हुआ, मन उसका शांत हुआ। कोई तीन-चार महीने बाद जीसस उस गांव से वापस निकल रहे थे। उसको पता भी नहीं था कि यह आदमी फिर मिल जाएगा रास्ते में। वह धुंआधार गालियां दे रहा है बैलों को। जीसस ने खड़े होकर कहा—यह क्या है मेरे भाई? उसने देखा जीसस को और फौरन बात बदली। उसने कहा बैलों से—देखो बैल, यह मैंने तुम्हें गालियां दीं, ऐसी मैं तुम्हें पहले दिया करता था। अब मेरे प्यारे बेटो, जरा तेजी से चलो।

जीसस ने कहा— तू बैलों को ही धोखा नहीं दे रहा है; तू मुझे भी धोखा दे रहा है। और तू मुझे धोखा दे इससे बहुत हर्जा नहीं है, तू अपने को धोखा दे रहा है। अंतिम धोखा तो खुद पर गिर जाता है। जीसस ने कहा—हो सकता है, मैं दुबारा इस गांव फिर कभी न आऊं। मैं मान ही ले रहा हूं कि तू बैलों को गालियां नहीं दे रहा था, सिर्फ पुरानी गालियां बैलों को याद दिला रहा था। लेकिन किसलिए याद दिला

रहा था? तू मुझे धोखा दे कि तू बैलों को धोखा दे—इसका बहुत अर्थ नहीं है, लेकिन तू अपने को ही धोखा दे रहा है।

जीवन में जब भी हम कुछ बुरा कर रहे हैं तो हम किसी दूसरे के साथ कर रहे हैं, यह भ्रांति है आपकी। प्राथमिक रूप से हम अपने ही साथ कर रहे हैं। क्योंकि अंतिम फल हमें भोगने हैं। वह जो भी हम बो रहे हैं, उसकी फसल हमें काटनी है। इंच-इंच का हिसाब है। इस जगत् में कुछ भी बेहिसाब नहीं जाता है। हम अपने शत्रु हो जाते हैं। हम कुछ ऐसा करते हैं जिससे हम अपने को ही दुःख में डालते हैं, अपने ही दुःख में उतरने की सीढ़ियां निर्मित करते हैं।

तो ठीक से देख लेना, जो आदमी अपना शत्रु है, वही आदमी अधार्मिक है। और जो अपना शत्रु है वह किसी का मित्र तो कैसे हो सकेगा? जो अपना भी मित्र नहीं, जो अपने लिए ही दुःख के आधार बना रहा है वह सबके लिए दुःख के आधार बना देगा।

पहला पाप अपने साथ शत्रुता है। फिर उसका फैलाव होता है। फिर अपने निकटतम लोगों के साथ शत्रुता बनती है, फिर दूरतम लोगों के साथ। फिर जहर फैलता चला जाता है, हमें पता भी नहीं चलता—जैसे कि झील में, कोई शांत झील में पत्थर फेंक दे! चोट पड़ते ही पत्थर तो नीचे बैठ जाता है क्षणभर में, लेकिन झील की सतह पर उठी हुई लहरें दूर-दूर तक यात्रा पर निकल जाती हैं। लहरें चलती चली जाती हैं अनंत तक।

ऐसे ही हम जो करते हैं . . .हम तो करके चुक भी जाते हैं—आपने गाली दे दी, बात खत्म हो गयी—फिर आप गीता पढ़ने लगे या कुछ भी करने लगे, लेकिन उस गाली की जो 'रिपिल्स', जो तरंगें पैदा हुईं वे चल पड़ीं। वे न मालूम कितने दूर के छोरों को छुएंगी! और जितना अहित उस गाली से होगा उतने सारे अहित के लिए आप जिम्मेवार हो गए! आप कहेंगे, कितना अहित हो सकता है एक गाली से? मैं कहता हूं, अकल्पनीय अहित हो सकता है। और जितना अहित हो जाएगा इस विश्व के तंत्र में, उतने के लिए आप जिम्मेदार हो जाएंगे। और कौन जिम्मेदार होगा? आपने उठायीं वे लहरें। आपने ही बोया वह बीज। अब वह चल पड़ा। अब वह दूर-दूर तक फैल जाएगा।

एक छोटी-सी दी हुई गाली से क्या-क्या हो सकता है! अगर आपने अकेले में गाली दी हो और किसी ने न सुनी हो तब तो शायद आप सोचेंगे कि कुछ भी नहीं होगा इसका परिणाम। लेकिन इस जगत् में कोई भी घटना निष्परिणामी नहीं है। उसके परिणाम होंगे ही । आप बहुत सूक्ष्म तरंगें पैदा करते हैं अपने चारों ओर। वे तरंगें फैलती हैं। उन तरंगों के प्रभाव में जो लोग भी आएंगे वे गलत रास्ते पर धक्का खाएंगे।

अभी बहुत काम चलता है सूक्ष्मतम तरंगों पर और खयाल में आता है कि अगर गलत लोग एक जगह इकट्ठे हों, सिर्फ चुपचाप बैठे हों, कुछ भी नहीं कर रहे हों, सिर्फ गलत हों और आप उनके पास से गुजर जाएं तो आपके भीतर जो गलत हिस्सा

है वह ऊपर आ जाता है। और जो ठीक हिस्सा है वह नीचे दब जाता है। दोनों हिस्से आपके भीतर हैं।

अगर कुछ अच्छे लोग बैठे हों एक जगह, प्रभु का स्मरण करते हों, कि प्रभु का गीत गाते हों, कि किसी सद्‌भावों के फूलों की सुगंध में जीते हों, कि सिर्फ मौन ही बैठे हों—जब आप इन लोगों के पास से गुजरते हैं तो दूसरी घटना घटती है। आपका गलत हिस्सा नीचे दब जाता है, आपका श्रेष्ठ हिस्सा ऊपर आ जाता है।

आपकी संभावनाओं में इतने सूक्ष्मतम अंतर होते हैं कि हिसाब लगाना मुश्किल है। और हम चौबीस घंटे कुछ न कुछ कर रहे हैं। एक छोटा-सा गलत बोला गया शब्द कितनी दूर तक कांटों को बो जाएगा, हमें कुछ पता नहीं है।

बुद्ध अपने भिक्षुओं से कहते थे कि तुम चौबीस घंटे, राह पर कोई दिखे उसकी मंगल की कामना करना। वृक्ष भी मिल जाए तो उसकी मंगल की कामना करके उसके पास से गुजरना। पहाड़ भी दिख जाए तो मंगल की कामना करके उसके निकट से गुजरना। राहगीर दिख जाए अनजान, तो उसके पास से मंगल की कामना करके राह से गुजरना।

एक भिक्षु ने पूछा, इससे क्या फायदा? बुद्ध ने कहा, इसके दो फायदे हैं। पहला तो यह कि तुम्हें गाली देने का अवसर न मिलेगा। तुम्हें बुरा खयाल करने का अवसर न मिलेगा। तुम्हारी शक्ति नियोजित हो जाएगी मंगल की दिशा में। और दूसरा फायदा यह कि जब तुम किसी के लिए मंगल की कामना करते हो तो तुम उसके भीतर भी रिजोनेंस, प्रतिध्वनि पैदा करते हो। वह भी तुम्हारे लिए मंगल की कामना से भर जाता है।

इसलिए इस मुल्क में राह पर चलते हुए अनजान आदमी को भी 'राम-राम' कहने की प्रक्रिया बनायी थी, जो शायद दुनिया में कहीं नहीं बनायी जा सकी।

उस आदमी को देखकर हमने प्रभु का स्मरण किया। जो ठीक से नमस्कार करना जानते हैं, वह सिर्फ उच्चारण नहीं करेंगे, वह उस आदमी में राम की प्रतिमा को भी देखकर गुजर जाएंगे। उन्होंने उस आदमी को देखकर प्रभु का स्मरण किया। उस आदमी की मौजूदगी प्रभु के स्मरण की घटना बन गयी। इस मौके को छोड़ा नहीं, इस मौके पर एक शुभ-कामना पैदा की गयी। प्रभु के स्मरण की घड़ी पैदा की गयी। और हो सकता है, वह आदमी शायद राम को मानता भी न हो और जानता भी न हो लेकिन उत्तर में वह भी कहेगा—'राम-राम'। उसके भीतर भी कुछ ऊपर आएगा। और अगर पुराने गांव की राह से गुजरें तो राह में पच्चीस दफा राम-राम कर लेना पड़ता है।

जीवन बहुत छोटी-छोटी घटनाओं से निर्मित होता है। मंगल की कामना या प्रभु का स्मरण आपके भीतर जो श्रेष्ठ है उसको ऊपर लाता है। और दूसरे के भीतर जो श्रेष्ठ है उसे भी ऊपर लाता है। जब आप किसी के सामने दोनों हाथ जोड़कर सिर झुका देते हैं तो आप उसको भी झुकने का एक अवसर देते हैं। और झुकने से बड़ा अ

वसर इस जगत् में दूसरा नहीं है क्योंकि झुका हुआ सिर कुछ बुरा नहीं सोच पाता। झुका हुआ सिर गाली नहीं दे पाता। गाली देने के लिए अकड़ा हुआ सिर चाहिए। और कभी आपने खयाल किया हो या ना किया हो, लेकिन अब आप खयाल करना कि जब किसी को हृदयपूर्वक नमस्कार करके सिर झुकाएं, और अगर कल्पना भी कर सकें कि परमात्मा दूसरी तरफ है तो आप अपने में भी फर्क पाएंगे और उस आदमी में भी फर्क पाएंगे। वह आदमी आपके पास से गुजरा तो आपने उसके लिए पारस का काम किया, उसके भीतर कुछ आपने सोना बना दिया। और जब आप किसी के लिए पारस का काम करते हैं तो दूसरा भी आपके लिए पारस बन जाता है। जीवन संबंध है, रिलेशनशिप है। हम संबंधों में जीते हैं। हम अपने चारों तरफ अगर पारस का काम करते हैं तो यह असंभव है कि बाकी लोग हमारे लिए पारस न हो जाएं। वे भी हो जाते हैं।

अपना मित्र वही है जो अपने चारों ओर मंगल का फैलाव करता है, अपने चारों ओर शुभ की कामना करता है। जो अपने चारों ओर नमन से भरा हुआ है, अपने चारों ओर कृतज्ञता का ज्ञापन करता चलता है। और जो व्यक्ति दूसरों के लिए मंगल से भरा हो वह अपने लिए अमंगल से कैसे भर सकता है? जो दूसरों के लिए भी सुख की कामना से भरा हो वह अपने लिए दुःख की कामना से नहीं भर सकता। वह अपना मित्र हो जाता है। और अपना मित्र हो जाना बहुत बड़ी घटना है। जो अपना मित्र हो गया वह धार्मिक हो गया। अब वह ऐसा कोई भी काम नहीं कर सकता, जिससे स्वयं को दुःख मिले।

तो अपना हिसाब रख लेना चाहिए कि मैं ऐसे कौन-कौन से काम करता हूं जिससे मैं ही दुःख पाता हूं। दिन में हम हजार काम कर रहे हैं, जिनसे हम दुःख पाते हैं। हजार बार पा चुके हैं। लेकिन कभी हम ठीक से तर्क नहीं समझ पाते हैं जीवन का, कि हम इन कामों को करके दुःख पाते हैं। वही बात जो आपको हजार बार मुश्किल में डाल चुकी है, आप फिर कह देते हैं। वही व्यवहार जो आपको हजार बार पीडा में धक्के दे चुका है, आप फिर कर गुजरते हैं। वही सब दोहराए चले जाते हैं यंत्र की भांति!

जिंदगी एक पुनरुक्ति से ज्यादा नहीं मालूम पड़ती, जैसी हम जीते हैं—एक 'मेकेनिकल रिपीटीशन'—वही भूलें, वही चूकें! नयी भूलें करनेवाले आविष्कारी आदमी भी बहुत कम हैं, बस पुरानी भूलें ही हम किए चले जाते हैं। इतनी बुद्धि भी नहीं कि एकाध नयी भूल करें। पुराना—कल किया था वही, परसों भी किया था वही! आज फिर वही करेंगे, कल फिर वही करेंगे।

मैं चाहूंगा कि आप इसके प्रति सजग होंगे। अपनी शत्रुता के प्रति सजग होंगे तो अपनी मित्रता का आधार बनना शुरू होगा। कृष्ण या बुद्ध या महावीर या क्राइस्ट जैसे लोग अपने लिए, अपने लिए ही, इतने आनंद का रास्ता बनाते हैं कि जिसका कोई हिसाब नहीं। ऊपर से हमें लगेगा कि ये लोग बिल्कुल त्यागी हैं, लेकिन मैं आपसे कहता हूं, इनसे ज्यादा परम स्वार्थी और कोई भी नहीं है! हम त्यागी कहे जा सकते

हैं क्योंकि हमसे ज्यादा मूढ़ कोई भी नहीं है। हम जो भी महत्त्वपूर्ण है, उसका त्याग कर देते हैं और जो व्यर्थ है उस कचरे को इकट्ठा कर लेते हैं, किंतु ये बहुत होशियार लोग हैं। यह जो व्यर्थ है उस सबको छोड़ देते हैं, जो सार्थक है उसको बचा लेते हैं।

जीसस की पूरी नयी बाइबिल का सार एक ही वचन है, 'दूसरों के साथ वह मत करें, जो आप नहीं चाहते कि दूसरे आपके साथ करें।' और अगर इस वाक्य को ठीक से समझ लें तो धर्म का सूत्र समझ में आ जाए। कई बार ऐसा मजेदार होता है कि कृष्ण के किसी वाक्य की व्याख्या बाइबिल में होती है और बाइबिल के किसी वाक्य की व्याख्या गीता में होती है। कभी कुरान के किसी सूत्र की व्याख्या वेद में होती है, कभी वेद के किसी सूत्र की व्याख्या कोई यहूदी फकीर करता है। कभी बुद्ध का वचन चीन में समझा जाता है और कभी चीन में लाओत्से का कहा गया वचन हिंदुस्तान का कोई कबीर समझाता है।

लेकिन तथाकथित धर्मों ने ऐसी दीवारें खड़ी कर दी हैं इन सबके बीच कि इनमें बीच के जो बहुत आंतरिक संबंध के सूत्र दौड़ते हैं उनका हमें कोई स्मरण नहीं रहा। नहीं तो हर मंदिर और मस्जिद के नीचे सुरंग होनी चाहिए, जिनसे कोई भी मंदिर से मस्जिद में जा सके। और हर गुरुद्वारे के नीचे से मंदिर को जोड़नेवाली सुरंग होनी चाहिए कि कभी भी किसी की मौत आ जाए तो तत्काल गुरुद्वारे से मंदिर, या मस्जिद से चर्च में जा सकें। लेकिन सुरंगों की बात तो दूर, ऊपर के रास्ते भी बंद हैं—सब रास्ते बंद हैं जो हमने अपने हाथों कर रखे हैं!

□□□

मृत्यु और परलोक

इस जगत् में अज्ञान के अतिरिक्त और कोई मृत्यु नहीं है। अज्ञान ही मृत्यु है, 'इग्नोरेंस इज़ डेथ'। क्या अर्थ हुआ इसका कि अज्ञान ही मृत्यु है? अगर अज्ञान मृत्यु है, तो ही ज्ञान अमृत हो सकता है। अज्ञान मृत्यु है, इसका अर्थ हुआ कि मृत्यु कहीं है ही नहीं। हम नहीं जानते इसलिए मृत्यु मालूम पड़ती है। मृत्यु असंभव है। मृत्यु इस पृथ्वी पर सर्वाधिक असंभव घटना है जो हो ही नहीं सकती, जो कभी हुई नहीं, जो कभी होगी नहीं, लेकिन रोज मृत्यु मालूम पड़ती है।

हम अंधेरे में खड़े हैं, अज्ञान में खड़े हैं। जो नहीं मरता वह मरता हुआ दिखाई पड़ता है। इस अर्थ में अज्ञान ही मृत्यु है। और जिस दिन हम यह जान लेते हैं, उस दिन मृत्यु तिरोहित हो जाती है और अमृत ही, अमृत्व ही शेष रह जाता है—'इम्मारिलटी' ही शेष रह जाती है।

कभी आपने खयाल किया कि आपने किसी आदमी को मरते देखा? आप कहेंगे, बहुत लोगों को देखा। पर मैं कहता हूं कि नहीं देखा! आज तक किसी व्यक्ति ने किसी

को मरते नहीं देखा। मरने की प्रक्रिया आज तक देखी नहीं होगी। जो हम देखते हैं वह केवल जीवन के विदा हो जाने की प्रक्रिया है, मरने की नहीं।

जैसे बटन दबाया हमने, बिजली का बल्ब बुझ गया। जो नहीं जानता, वह कहेगा बिजली मर गयी। जो जानता है, वह कहेगा बिजली अभिव्यक्त थी, अब अनभिव्यक्त हो गयी। प्रकट थी, अब अप्रकट हो गयी। मर नहीं गयी। फिर बटन दबेगा, बिजली फिर वापस लौट आएगी। फिर बटन दबाएंगे, बिजली फिर भीतर तिरोहित हो जाएगी।

जीवन समाप्त नहीं होता। केवल शरीर से विदा होता है। लेकिन विदायी हमें मृत्यु मालूम पड़ती है। क्यों मालूम पड़ती है? क्योंकि हमने कभी अपने भीतर के शरीर से अलग किसी अस्तित्व का अनुभव नहीं किया। हमारा अनुभव यही है कि मैं शरीर हूं। इसलिए जब शरीर समाप्त होगा, जलाने के योग्य हो जाएगा, तब स्वभावतः निष्कर्ष होगा कि मर गए। शरीर से अलग अपने भीतर जिसने किसी तत्त्व को नहीं जाना, वह अज्ञानी है।

अज्ञानी का मतलब यह नहीं कि जिसे यूनिवर्सिटी की डिग्री नहीं मिली है। विश्वविद्यालय का कोई सर्टिफिकेट नहीं है। सच तो यह है, विश्वविद्यालय ने जितने सर्टिफिकेट दिए, अज्ञान उतना बढ़ा है, कम नहीं हुआ। कारण हैं इसके। कारण यह है कि विश्वविद्यालय के सर्टिफिकेट को लोग ज्ञान समझने लगे इसलिए असली ज्ञान की खोज की कोई जरूरत नहीं मालूम पड़ती।

अज्ञानी आदमी के पास सर्टिफिकेट नहीं होता, वह ज्ञान की खोज करता है। तथाकथित ज्ञानी के पास सर्टिफिकेट होता है, वह मान लेता है कि मैं ज्ञानी हूं। मेरे पास यूनिवर्सिटी की डिग्री है, और क्या चाहिए?

ज्ञान तो सिर्फ एक है--स्वयं का ज्ञान, बाकी सब सूचनाएं हैं--'इन्फर्मेशन' हैं, 'नालेज, नहीं!' बाकी सब परिचय है, ज्ञान नहीं। रसल ने ज्ञान के दो हिस्से किए हैं, नालेज और अक्वेंटेंस--ज्ञान और परिचय। ज्ञान तो सिर्फ एक ही चीज का हो सकता है, वह मैं हूं, बाकी सब परिचय है, ज्ञान नहीं। अपने से पृथक् जिसे भी मैं जानता हूं वह सिर्फ अक्वेंटेंस, परिचय है। . . .जान तो सिर्फ अपने को सकता हूं क्योंकि अपने से जो भिन्न है उसके भीतर मेरा प्रवेश नहीं हो सकता, सिर्फ बाहर घूम सकता हूं--परिचय ही कर सकता हूं। ऊपर-ऊपर से जान सकता हूं, भीतर तो नहीं जा सकता, भीतर तो सिर्फ एक ही जगह जा सकता हूं--जहां 'मैं हूं'।

यह बहुत मजे की बात है कि अपना परिचय नहीं होता, और दूसरे का ज्ञान नहीं होता। दूसरे का परिचय होता है, अपना ज्ञान होता है। अपना परिचय इसलिए नहीं होता क्योंकि अपने बाहर घूमने का उपाय नहीं। दूसरे का ज्ञान इसलिए नहीं होता क्योंकि दूसरे के भीतर प्रवेश नहीं है।

लेकिन हम बड़े अजीब लोग हैं। हम अपना परिचय कर लेते हैं जो कि हो नहीं सकता, और हम दूसरे के ज्ञान को ज्ञान समझ लेते हैं जो हो नहीं सकता। यह अज्ञान

की स्थिति है। अज्ञान में मृत्यु है—जब आप एक व्यक्ति को बुझते देखते हैं! बुझते—मरते नहीं! इसलिए बुद्ध ने ठीक शब्द का उपयोग किया है, वह शब्द है—निर्वाण। निर्वाण का अर्थ है, दीये का बुझना। बस, दीया बुझ जाता है—कोई मरता नहीं। दिखाई पड़ती थी ज्योति, अब नहीं दिखाई पड़ती। देखने के क्षेत्र से विदा हो जाती है, अदृश्य में लीन हो जाती है। फिर प्रकट हो सकती है, फिर लीन हो सकती है। यह प्रकट-अप्रकट होने का क्रम अनंत चल सकता है, जब तक कि ज्योति पहचान न ले कि प्रकट में भी मैं वही हूं, अप्रकट में भी मैं वही हूं। न मैं प्रकट होती, न मैं अप्रकट होती, सिर्फ रूप प्रकट होता और अप्रकट होता है।

वह जो रूप के भीतर छिपा हुआ सत्य है वह न प्रकट में प्रकट होता, न अप्रकट में अप्रकट होता है—न जीवन में जीवित होता, न मृत्यु में मरता है। तब अमृत का अनुभव है। हम दूसरों को मरते देखकर, बुझते देखकर हिसाब लगा लेते हैं कि सब मरते हैं तो मैं भी मरूंगा। लेकिन कभी किसी मरनेवाले से पूछा, कि मर गए? लेकिन वह उत्तर नहीं देता। इसलिए मान लेते हैं कि 'हां' में उत्तर देता होगा!

मौन को सम्मति का लक्षण समझने की बात सभी जगह ठीक नहीं है। मरे हुए आदमी से पूछो, मर गए? अगर वह उत्तर दे तो समझना मरा नहीं और अगर मौन रह जाए तो हम समझ लेते हैं कि मर गया, लेकिन मौन सम्मति का लक्षण नहीं! नहीं बोल पा रहा है, इसलिए मर गया, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं।

दक्षिण में ब्रह्मयोगी, एक साधु ने आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी, कलकत्ता और रंगून यूनिवर्सिटी में मरने के प्रयोग करके दिखाए थे। वह दस मिनट के लिए मर जाते थे। कलकत्ता यूनिवर्सिटी में दस डाक्टर मौजूद थे। जिन्होंने सर्टिफिकेट लिखा कि यह आदमी मर गया, क्योंकि मृत्यु के जो भी लक्षण हैं, चिकित्साशास्त्र के पास, पूरे हो गए थे। श्वास नहीं, बोल नहीं सकता, खून में गति नहीं रही, ताप गिर गया, नाड़ी बंद हो गयी, हृदय की धड़कन नहीं है, सब सूक्ष्मतम यंत्रों ने कह दिया कि आदमी मर गया! उन दस ने लिखा, दस्तखत किए क्योंकि ब्रह्मयोगी कह गए थे कि दस्तखत करके 'डेथ सर्टिफिकेट' दे देना कि मैं मर गया!

फिर दस मिनट बाद सब वापस लौट आया। श्वास फिर चली, धड़कन फिर चली, खून फिर बहा, उस आदमी ने आंख भी खोली, वह बोलने भी लगा, उठकर बैठ गया! उसने कहा, अब मैं आपके सर्टिफिकेट के संबंध में क्या मानूं? आप बड़े जालसाज हैं, जिंदा आदमी को मरने का सर्टिफिकेट देते हैं। उन्होंने कहा, जहां तक हम जानते थे, मौत घट गयी थी। उसके आगे हम नहीं जानते।

लेकिन, उनमें से एक डाक्टर ने अपने संस्मरणों में लिखा है कि उस दिन से मैं फिर मृत्यु का सर्टिफिकेट नहीं दे सका किसी को भी। क्योंकि उस दिन जो मैंने देखा, उससे साफ हो गया कि मृत्यु के लक्षण, सिर्फ विदा होने के लक्षण हैं। और चूंकि आदमी लौटना नहीं जानता, इसलिए हमारे सर्टिफिकेट सही हैं, वरना सब गलत हो जाते।

वह ब्रह्मयोगी लौटना जानता है। तीन बार, लंदन, कलकत्ता और रंगून विश्वविद्याल य में उन्होंने मरकर दिखाया और तीनों जगह पृथ्वी पर पहला आदमी है, जिसने ती न दफा मृत्यु का सर्टिफिकेट लिया।

यह हुआ क्या? जब ब्रह्मयोगी से चिकित्सक पूछते कि हुआ क्या, किया क्या? तो व ह कहते कि मैं सिर्फ सिकोड़ लेता हूं अपने जीवन को—जैसे कि सूरज अपनी किरणों को सिकोड़ ले, जैसे कि फूल अपनी पंखुड़ियों को बंद कर ले, जैसे पक्षी अपने पंखों को सिकोड़कर और अपने घोंसले में बैठ जाए—ऐसे!

मैं सिकोड़ लेता हूं जीवन को—भीतर—भीतर, वहां जहां तुम्हारे यंत्र नहीं पकड़ पाते। होता तो मैं हूं ही, इसलिए वापस लौट आता हूं। फिर खोल देता हूं पंखों को, फि र जीवन के आकाश में उड़ आता हूं घोंसले के बाहर। हम सब के भीतर वह गुह्य स्थान है जहां आत्मा सिकुड़ जाए तो फिर यंत्र पता नहीं लगा पाते, इंद्रियां पता नह ीं लगा पातीं। असल में यंत्र इंद्रियों के एक्सटेंशन से ज्यादा नहीं हैं।

यंत्र हमारी ही इंद्रियों का विस्तार है। आंख है, तो हमने दूरबीन और खुर्दबीन बनाई। वह आंख का विस्तार है जो आंख को मेग्नीफाई कर देती है। कान है, तो टेलीफो न बनाया, वह कान का विस्तार है। मेरा हाथ है, यहां से बैठकर मैं आपको छू नहीं सकता। मैं एक डंडा हाथ में पकड़ लूं और उससे आपको छुऊं तो डंडा मेरे हाथ का विस्तार हो गया। सारे यंत्र हमारी इंद्रियों के विस्तार हैं। अब तक एक भी यंत्र नहीं बना जो हमारी इंद्रियों से अन्य हो, विस्तार न हो। सब एक्सटेंशंस हैं।

इंद्रियां जिसे नहीं पकड़ पातीं, यंत्र कभी-कभी उसे पकड़ लेता है, सूक्ष्म होता है तो! लेकिन जो अतींद्रिय है उसे यंत्र भी नहीं पकड़ पाता। सूक्ष्म हो, इंद्रिय की पकड़ के बाहर हो, तो यंत्र पकड़ लेता है। लेकिन जो अतींद्रिय है—सूक्ष्म नहीं, अतींद्रिय, या नी इंद्रियों के पार— पैरासाइकिक, उसको फिर यंत्र भी नहीं पकड़ पाता। जीवन ऊज ा पैरासाइकिक है—अतींद्रिय है। इसलिए कोई यंत्र उसकी गवाही नहीं दे सकता।

इस जीवन ऊर्जा को जानने का एक ही उपाय है, वह इंद्रियों के द्वारा नहीं, इंद्रियों के पीछे सरककर—इंद्रियों के माध्यम से नहीं, इंद्रियों के माध्यम को छोड़कर! ज्ञानी इंद्रियों के माध्यम को छोड़कर स्वयं को जानता है और एक क्षण भी यह झलक मि ल जाए स्वयं की तो वह अमृत उपलब्ध हो जाता है। जिसकी कोई मृत्यु नहीं वह सत्य दिखाई पड़ जाता है—जिसका कोई प्रारंभ नहीं, कोई अंत नहीं। ज्ञानी अमृत क ो उपलब्ध हो जाते हैं।

अलकेमिस्ट कहते हैं कि हम खोज रहे हैं वह तत्त्व, जिससे आदमी अमर हो जाएगा। वे कभी न खोज पाएंगे! आदमी अमर है ही, किसी चीज से अमर करने की जरूर त नहीं है। चेतना अमर है ही। और ऐसा मत सोचना कि पदार्थ मरता है और चेत ना अमर है। पदार्थ भी अमर है और चेतना भी अमर है।

पदार्थ इसलिए अमर है कि वह जीवित ही नहीं है। जो जीवित हो वही मर सकता है। पदार्थ कैसे मरेगा, जब जीवित ही नहीं है। इसलिए पदार्थ अमर है, उसकी मृत्यु का कोई उपाय नहीं है।

आत्मा इसलिए अमर है कि वह जीवित है। जो जीवित है वह मर कैसे सकता है? जीवन की कोई मृत्यु नहीं हो सकती, मृत्यु का कोई जीवन नहीं हो सकता। पदार्थ का सिर्फ अस्तित्व है, जीवन नहीं। आत्मा का जीवन भी है और अस्तित्व भी।

इस बात को खयाल में रख लें—'एक्ज़िस्टेंस एंड लाइफ बोथ'— आत्मा की; पदार्थ की—'एक्ज़िसटेंस ओनली'! पदार्थ सिर्फ 'है', लेकिन पदार्थ को अपने होने का पता नहीं है। आत्मा 'है' भी और उसे 'अपने होने' का भी पता है। बस यह होने का पता उसे जीवन बना देता है।

हम आत्मा हैं, क्योंकि हम हैं और हमें अपने होने का भी पता है, हम जीवित भी हैं; लेकिन हम क्या हैं, इसका हमें कोई भी पता नहीं। होने का पता हो और यह पता न हो कि क्या हैं, तो अज्ञान की स्थिति है। होने का पता हो और यह भी पता हो कि क्या हैं, तो ज्ञान की स्थिति है।

अज्ञानी में उतनी ही आत्मा है जितनी ज्ञानी में—रत्तीभर कम नहीं है। लेकिन अज्ञानी अपने प्रति बेहोश है, ज्ञानी अपने प्रति होश से भरा हुआ है। ऐसे व्यक्ति जो ज्ञान, अमृत को उपलब्ध हो जाते हैं, वे परलोक में परम परात्पर ब्रह्म को पाते हैं।

परलोक का क्या अर्थ है? क्या मरने के बाद? आमतौर से हमें यही खयाल है कि परलोक का अर्थ मरने के बाद है। लेकिन जब आत्मा मरती ही नहीं तो मरने के बाद परलोक का अर्थ ठीक नहीं है। परलोक कहीं मरने के बाद और नहीं है, परलोक अभी और यहीं मौजूद है—'जस्ट बाइ द कार्नर'— पर हमें उसका कोई पता नहीं। जिसे अपना पता नहीं, उसे परलोक का पता नहीं हो सकता। क्योंकि परलोक में जाने का द्वार स्वयं का अस्तित्व है—स्वयं का ही होना है। जिसे अपना पता है, वह एक ही साथ परलोक और लोक की देहरी पर खड़ा हो जाता है। इस तरफ झांकता है तो लोक, उस तरफ झांकता है तो परलोक। बाहर सिर करता है तो लोक, भीतर सिर करता है तो परलोक।

परलोक अभी और यहीं है। ब्रह्म कहीं दूर नहीं है आपके बिल्कुल पड़ोस में है, आपके पड़ोसी से भी ज्यादा पड़ोस में है। आपके बगल में जो बैठा है आदमी, उसमें और आप में भी फासला है। लेकिन उससे भी पास ब्रह्म है। आपमें और उसमें फासला भी नहीं है।

'जब जरा गर्दन झुकायी, देख ली, दिल के आइने में है तस्वीरे यार'—बस इतना ही फासला है, गर्दन झुकाने का। यह भी कोई फासला हुआ? बाहर लोक है और भीतर परलोक है।

तो ध्यान रखें, लोक और परलोक का विभाजन समय में नहीं, स्थान में है। इस बात को ठीक से खयाल में ले लें। लोक और परलोक का विभाजन 'टाइम डिवीजन' नहीं है कि मैं मरूंगा, मरने की घटना या विदा होने की घटना समय में घटेगी, और फिर उस मरने के बाद जो होगा वह परलोक होगा। हमने अब तक परलोक को टेंपोरल समझा है, टाइम में बांटा है। परलोक भी स्पेसियल है, स्पेस में बंटा है, टाइम में नहीं। अभी यहीं, लोक भी मौजूद है, परलोक भी मौजूद है; पदार्थ भी मौजूद

है, परमात्मा भी मौजूद है। फासला समय का नहीं, फासला सिर्फ स्थान का है और स्थान का भी फासला हमारी दृष्टि का फासला, अटेंशन का फासला है।

अगर हम बाहर की तरफ ध्यान दे रहे हैं तो परलोक खो जाता है, अगर हम परलोक की तरफ ध्यान दें तो लोक खो जाता है। रात आप सो जाते हैं तब लोक खो जाता है। मैं पूछता हूं, क्या आपको तब याद रहता है कि बाजार में आपकी एक दुकान है? आपका एक बेटा है? कि आपकी एक पत्नी है? कि आपका बैंक बैलेंस इतना है? कि आप कर्जदार हैं? कि लेनदार हैं? यानी जब आप सोते हैं तो लोक खो जाता है। लेकिन परलोक शुरू नहीं होता।

निद्रा, लोक और परलोक के बीच में है। निद्रा मूर्च्छा है--लोक भी खो जाता है, परलोक भी शुरू नहीं होता। ध्यान की अवस्था लोक और परलोक के बीच में है। लोक खोता है, परलोक शुरू हो जाता है।

जैसे एक आदमी अपने मकान के दरवाजे की दहलीज पर बैठ जाए आंख बंद करके तो न घर दिखाई पड़े, न बाहर दिखाई पड़े। फिर वह आदमी बाहर की तरफ देखे तो भीतर का दिखाई न पड़े, फिर वह मुड़कर खड़ा हो जाए, तो भीतर का दिखाई न पड़े।

ऐसी तीन स्थितियां हुईं। लोक की--जब हम बाहर देख रहे हैं और 'कांशसनेस', चेतना बाहर की तरफ जाती हुई हो। परलोक की--जब चेतना भीतर की तरफ जाती हुई हो। निद्रा की--जब चेतना किसी तरफ जाती हुई नहीं, सो गई हो।

जब कहा जाता है कि परलोक में व्यक्ति आनंद को उपलब्ध होता है, तो क्या इसका यह मतलब है कि जिस व्यक्ति ने ब्रह्म को जाना, आत्मा की अमरता को जाना वह मरने के बाद आनंद को उपलब्ध होगा और अभी नहीं होगा? नहीं, अभी हो जाएगा, यहीं हो जाएगा। लेकिन जो व्यक्ति इस अमृत्व को नहीं जानता वह उस परलोक में, उस भीतर के लोक में, उस पार के परलोक में, कैसे आनंद को उपलब्ध होगा? वह संसार में भी दुःख पाता है, यानी बाहर भी दुःख पाता है और भीतर भी दुःख पाता है। इसे ठीक से समझ लें।

बाहर इसलिए दुःख पाता है कि जिसको यह खयाल है कि मृत्यु है, वह बाहर कभी सुख नहीं पा सकता। मृत्यु का खयाल बाहर के सब सुखों को विषाक्त कर जाता है, 'पायजनस' कर जाता है। बाहर अगर सुख लेना है थोड़ा बहुत तो मृत्यु को बिलकुल भूलना पड़ता है। इसलिए हम मृत्यु को भुलाने की कोशिश करते हैं। लेकिन ध्यान रहे, जिसे हम भुलाते हैं उसकी और याद आती है। स्मृति का नियम है : भुलाएं ! --याद आएगा!

अर्थी निकलती है द्वार से तो लोग घर का दरवाजा बंद करके बच्चों को भीतर कर लेते हैं। मौत याद न आ जाए, क्योंकि जिसे मौत याद आ गयी उसके जीवन में संन्यास को ज्यादा देर नहीं है। जो मौत को भुला ले वही संसार में हो सकता है। इसलिए मौत को छिपाते हैं, हजार ढंग से छिपाते हैं।

गांव के बाहर बनाते हैं मरघट। मरा नहीं आदमी कि ले जाने की इतनी जल्दी पड़ती है जिसका हिसाब नहीं। रहने दें थोड़ी देर, लोगों को देख लेने दें, स्मरण कर लेने दें कि यही घटना उनकी भी घटनेवाली है। जिस आदमी को वर्षों चाहा, और प्रेम किया, उसको विदा करने की इतनी शीघ्रता क्यों है? शीघ्रता का आंतरिक कारण है—जो मनोवैज्ञानिक है!

मरे हुए की मौजूदगी हमें अपने मरे होने की खबर लाती है। मृत्यु का निशान न रह जाए जीवन के पर्दे पर कहीं, उसे फौरन अलग कर दो। और मजे की बात यह है कि जन्म के बाद अगर कोई चीज की 'सरटेंटी' है, कोई चीज निश्चित है तो वह मृत्यु ही है। जन्म के बाद अगर कोई चीज प्रिडिक्टेबल है, किसी चीज की भविष्यवाणी की जा सकती है तो वह मृत्यु है, बाकी किसी चीज की भी भविष्यवाणी की नहीं जा सकती।

भविष्यवाणी का यह मतलब नहीं कि तारीख और दिन बताया जा सकता है, भविष्यवाणी का यह मतलब कि मृत्यु होगी ही, इतना तय है—बाकी सब चीजें, हों भी, न भी हों। विवाह हो भी सकता है, न भी हो। स्वास्थ्य रहे भी, न भी रहे। बीमारी आए भी, न भी आए। धन मिले भी, न भी मिले। लेकिन मृत्यु के बाबत ऐसा नहीं कहा जा सकता कि हो भी, न भी हो।

जो इतनी निश्चित है घटना उसे हम बाहर रखते हैं और कई चीजों से भुलाते हैं। लेकिन हर जगह उसकी खबर मिल जाती है। फूल सुबह खिलता और सांझ को मुझा जाता है और कह जाता है कि मौत है! प्रेम घड़ीभर खिलता और सूख जाता है और खबर दे जाता है कि मौत है! जवानी आती और चली जाती है और खबर दे जाती है कि मौत है! हरे पत्ते लगते और पतझड़ में झड़ जाते हैं पर खबर दे जाते हैं, मौत है! सुबह सूरज उगता और सांझ डूबने लगता है और खबर दे जाता है कि मौत है!

जिसकी जिंदगी में अभी अमृत का पता नहीं चला, उसका सब विषाक्त हो जाता है—सब प्वायजंड हो जाता है। कोई सुख हो नहीं सकता। जब तक मृत्यु की कालिमा पीछे खड़ी है, सब सुख अंधेरे हो जाते हैं। सच तो यह है कि मृत्यु की कालिमा दुःख के क्षण में उतनी गहन नहीं होती, सुख के क्षण में बहुत गहन होकर दिखाई पड़ती है।

किर्केगार्ड ने लिखा है, कि प्रेम के क्षण में मृत्यु जितनी प्रगाढ़ मालूम होती है उतनी कभी नहीं मालूम होती। अगर कृष्णमूर्ति को सुनें—अगर वह डेथ पर बोलना शुरू करें तो लव पर जरूर बोलेंगे, अगर लव पर बोलना शुरू करें तो फिर डेथ पर जरूर बोलेंगे—उसी भाषण में, बाहर नहीं जा सकते। यह बात क्या है? प्रेम की, जहां सुख की झलक आयी वहां तत्काल पता लगता है कि जिसे हम प्रेम कर रहे हैं वह मरेगा, जो प्रेम कर रहा है वह भी मर जाएगा, बीच में जो प्रेम बह रहा है वह भी मर जाएगा।

प्रेम के सघन क्षण में मृत्यु बहुत प्रगाढ़ होकर दिखाई पड़ती है। प्रेम सुख लाता है, पीछे से मृत्यु का स्मरण ले आता है। जहां-जहां सुख है वहां मौत पीछे खड़ी हो जाती है। इसीलिए तो सुख क्षणभंगुर है। हम ले भी नहीं पाते और मौत उसे हड़प जाती है। जिसको भीतर के अमृत का पता नहीं वह परलोक में तो आनंद पा ही नहीं सकता, इस लोक में भी सिर्फ दुःख पाता है।

दूसरी बात भी कह देने जैसी है कि जो परलोक में आनंद पाता है वह इस लोक में भी आनंद पाता है। ये जुड़े हुए हैं। जिसे भीतर आनंद मिला उसे बाहर भी आनंद ही आनंद हो जाता है। ध्यान रहे, उसकी सारी दृष्टि बदल जाती है। जिसे भीतर आनंद नहीं मिला उसे बसंत में भी मृत्यु नजर आती है, पतझड़ दिखायी पड़ता है। उसे बच्चे के पीछे भी बूढ़े का जीर्ण-जर्जर शरीर दिखायी पड़ता है। उसे जवानी की तरंगों में भी मौत का गिर जाना और मिट जाना दिखाई पड़ता है। उसे सुख के क्षण में भी पीछे खड़े दुःख की प्रतीति होती है। अज्ञान में सब सुख, दुःख हो जाते हैं। ज्ञान में सब दुःख भी सुख हो जाते हैं।

उस तरह के व्यक्ति को पतझड़ में भी आनेवाले बसंत की पदचाप सुनायी पड़ती है। वृक्ष से सूखे गिरते पत्ते में भी नए पत्तों के अंकुरित होने की ध्वनि का बोध होता है। सांझ डूबते हुए सूरज में भी सुबह के उगनेवाले सूरज की तैयारी का पता चलता है। विदा होते बूढ़े में भी पैदा होनेवाले बच्चों के जन्म की खबर मिलती है। मृत्यु का द्वार भी उसे जन्म का द्वार बन जाता है। अंधेरा भी उसे प्रकाश की पूर्व भूमिका मालूम पड़ती है। सुबह अंधेरा जब गहन हो जाता है तभी वह जानता है कि आनेवाली भोर निकट है। दृष्टि बदल जाती है, सब उल्टा हो जाता है।

एक युवक ने कल संन्यास लिया—मां को, पिता को, वरदान मालूम पड़ना चाहिए! लेकिन मां मेरे पास आई—छाती पीटकर रोती है, कहती है कि मैं जहर खाकर मर जाऊंगी। ये कपड़े उतरवा दो! मां कहती है, मेरे तीन बच्चे पहले मर चुके! मेरा मन उससे पूछने का होता है, लेकिन पूछता नहीं कि तीन बच्चे मर गए तब तूने जहर नहीं खाया।

इसने कुछ भी नहीं किया, सिर्फ गेरुआ वस्त्र ऊपर डाले और तू जहर खाकर मर जाएगी? यह तेरा लड़का चोर हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती? यह लड़का बेईमान हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती? यह लड़का पोलिटीशियन हो जाता, तब तू जहर खाकर मरती?—नहीं, तब अभिशाप भी वरदान मालूम होते। अभी वरदान उतरा है इस लड़के के ऊपर! मां को नाचना चाहिए, पिता को आनंद मनाना चाहिए। फिर यह कहीं जा नहीं रहा है छोड़कर, घर ही रहेगा। लेकिन नहीं, अज्ञान में वरदान भी अभिशाप मालूम पड़ते हैं। वह छाती पीटती है और रोती है। नहीं, इसमें कुछ आकस्मिक नहीं है, बड़ी स्वाभाविक बात है। अज्ञान बड़ा स्वाभाविक है, आकस्मिक नहीं है।

बुद्ध जैसे व्यक्ति ने संन्यास लिया और जब बारह वर्ष के बाद ज्ञान के सूर्य को जगाकर घर वापस लौटे, तब भी बाप को दिखाई नहीं पड़ा कि बेटे का जीवन रूपांतरि

त हुआ। उन्हें दिखाई न पड़ा कि लाखों लोगों के जीवन में बुद्ध से रोशनी पहुंची। द स हजार भिक्षु बुद्ध के साथ पीछे खड़े हैं। उनके पीत वस्त्रों में उनके भीतर का प्रक ाश झलकता है।

लेकिन बाप ने गांव के दरवाजे पर यही कहा कि मैं तुझे अभी भी माफ कर सकता हूं। तू वापस लौट आ। यह भूल छोड़, बहुत हो चुका, नासमझी बंद कर। मुझ बूढ़े को इस बुढ़ापे में मृत्यु के निकट होने में दुःख मत दे। बाप को नहीं दिखाई पड़ स का कि किससे वह कह रहे हैं। बुद्ध हंसने लगे। बुद्ध ने कहा, गौर से तो देख लें। ब ारह वर्ष पहले जो घर से गया था, वही वापस नहीं लौटा, वह तो कभी का जा चु का। यह कोई और है, जरा गौर से तो देखें।

लेकिन बाप ने कहा, तू मुझे सिखाएगा? मैं तुझे जानता नहीं? मेरा खून बहता है ते री नसों में। मैं तुझे जितना जानता हूं, उतना कौन तुझे जान सकता है? बुद्ध ने क हा, आप अपने को ही जान लें तो काफी है। मुझे जानने के भ्रम में मत पड़ें। क्योंकि दूसरे के जानने के भ्रम में वही पड़ता है जो स्वयं को नहीं जानता है।

बाप की तो आग भड़क गई, क्रोध भारी हो गया। उन्होंने कहा, यह मैंने सोचा भी न था कि तू अपने ही बाप से इस तरह बातें बोलेगा। बुद्ध जैसा बेटा भी घर में हो तो बाप के लिए अभिशाप मालूम पड़ता है। अज्ञान सब वरदानों को अभिशाप कर लेता है। सब फूलों को कांटा बना लेता है। ज्ञान कांटों को भी फूल बना लेता है। जिसे अंतःलोक में आनंद है उसे बाहर के जगत् में दुःख की कोई रेखा भी शेष नहीं रह जाती, और जिसे बाहर के लोक में दुःख है उसे भीतर के लोक का कोई पता ही नहीं होता, आनंद की तो बात ही मुश्किल है।

भगवत-प्रेम

जगत् में तीन प्रकार के प्रेम हैं—एक : वस्तुओं का प्रेम, जिससे हम सब परिचित हैं। अधिकतर हम वस्तुओं के प्रेम से ही परिचित हैं। दूसरा : व्यक्तियों का प्रेम। कभी लाख में एकाध आदमी व्यक्ति के प्रेम से परिचित होता है। लाख में एक कह रहा हूं, सिर्फ इसलिए कि आपको अपने बचाने की सुविधा रहे कि मैं तो लाख में एक हूं ही। नहीं, इस तरह बचाना मत!

एक ••१७९••ेंच चित्रकार सींजां एक गांव में ठहरा। उस गांव के होटल के मैने जर ने कहा, यह गांव स्वास्थ्य की दृष्टि से बहुत अच्छा है। यह पूरी पहाड़ी अद्‌भुत है। सींजां ने पूछा, इसके अद्‌भुत होने का राज, रहस्य, प्रमाण? उस मैनेजर ने कहा , राज और रहस्य तुम रहोगे यहां तो पता चल जाएगा। प्रमाण यह है कि इस पूरी पहाड़ी पर रोज एक आदमी से ज्यादा नहीं मरता। सींजां ने जल्दी से पूछा, आज मरनेवाला आदमी मर गया या नहीं? नहीं, तो मैं भागूं।

आदमी अपने को बचाने के लिए बहुत आतुर है। अगर मैं हूं, लाख में एक, तो आ प कहेंगे बिल्कुल ठीक—छोड़ा अपने को! आपको भर नहीं छोड़ रहा हूं, खयाल रखन

ा। लाख में एक आदमी व्यक्ति के प्रेम को उपलब्ध होता है। शेष आदमी वस्तुओं के प्रेम में ही जीते हैं। आप कहेंगे—हम व्यक्तियों को प्रेम करते हैं, लेकिन मैं आपसे कहूंगा—वस्तुओं की भांति, व्यक्तियों की भांति नहीं!

आज एक मित्र आए संन्यास लेने, पत्नी को साथ लेकर आए। पत्नी को समझाया कि वे घर छोड़कर नहीं जाएंगे, पति ही रहेंगे—पिता ही रहेंगे। संन्यास उनकी आंतरिक घटना है, चिंतित होओ मत, घबराओ मत! लेकिन उस पत्नी ने कहा, नहीं, मैं संन्यास नहीं लेने दूंगी।

मैंने कहा, कैसा प्रेम है यह? अगर प्रेम गुलामी बन जाए तो प्रेम है? प्रेम अगर स्वतंत्रता न दे तो प्रेम है? प्रेम अगर जंजीरें बन जाए तो प्रेम है? फिर यह पति व्यक्ति न रहा, वस्तु हो गया—युटिलिटेरियन, यह व्यक्ति नहीं रहा! पत्नी कहती है, मैं आज्ञा नहीं दूंगी तो नहीं लेंगे संन्यास! व्यक्ति का सम्मान न रहा, उसकी स्वतंत्रता का सम्मान न रहा, उसका कोई अर्थ न रहा, वह वस्तु हो गया।

हम व्यक्तियों को प्रेम भी करते हैं तो 'पजेस' करते हैं, मालिक हो जाते हैं। मालिक व्यक्तियों का कोई नहीं हो सकता, सिर्फ वस्तुओं की मालकियत होती है। पत्नी, पति को पजेस करती है और कहती है मालकियत है। कोई पति कहता है पत्नी को कि मेरी हो, तो फर्नीचर में और पत्नी में कोई भेद नहीं रह जाता। यह उपयोग हो गया, व्यक्ति का सम्मान न हुआ। दूसरे व्यक्ति की निजता का, आत्मा का कोई आदर न हुआ ! इसलिए मैं कहता हूं वस्तुओं को ही हम प्रेम करते हैं। यदि व्यक्तियों को भी प्रेम करते हैं तो उनको भी वस्तु बना लेते हैं।

व्यक्तियों का प्रेम, मैंने कहा—लाख में एक आदमी को उपलब्ध होता है। व्यक्ति के प्रेम का अर्थ है, दूसरे का अपना मूल्य है। मेरी उपयोगिता-भर ही मूल्य नहीं है उसका—'युटिलिटेरियन'—इतना ही उसका मूल्य नहीं है, उसका अपना निजी मूल्य है। वह मेरा साधन नहीं है, वह स्वयं अपना साध्य है।

एमेनुअल कांट ने कहा है, नीति के परम सूत्रों में एक सूत्र : कि अनीति का एक ही अर्थ है, दूसरे व्यत्ति का साधन की तरह उपयोग करना अनैतिक है। और दूसरे व्यिक्त को साध्य मानना नैतिक है। गहरे से गहरा सूत्र है यह कि दूसरा व्यक्ति अपना साध्य है स्वयं। मैं उससे प्रेम करता हूं, एक व्यक्ति की भांति—एक वस्तु की भांति नहीं। इसलिए मैं उसका मालिक कभी नहीं हो सकता हूं। इसलिए व्यक्ति के प्रेम को ही हम उपलब्ध नहीं होते।

फिर तीसरा प्रेम है : भगवत-प्रेम—वह अस्तित्व का प्रेम है! यों तीन प्रकार के प्रेम हुए—'लव टुवड्‌र्स द एक्जिस्टेंस', 'लव टूवड्‌र्स दी पर्सन' एंड 'लव टुवर्ड्स दी आब्जैक्ट्स'। वस्तुओं के प्रति प्रेम—जैसे मकान, धन-दौलत, पद, पदवी! व्यक्तियों के प्रति प्रेम—मनुष्य! अस्तित्व के प्रति प्रेम—भगवत-प्रेम, समग्र अस्तित्व को प्रेम।

इसको थोड़ा ठीक से देख लेना जरूरी है। जब हम वस्तुओं को प्रेम करते हैं तब हमें सारे जगत् में वस्तुएं ही दिखायी पड़ती हैं, कोई परमात्मा दिखायी नहीं पड़ता है। क्योंकि जिसे हम प्रेम करते हैं उसे ही हम जानते हैं। प्रेम जानने की आंख है। प्रेम

के अपने ढंग हैं जानने के। सच तो यह है कि प्रेम ही 'इंटीमेट नोइंग' है—आंतरिक! आत्मीय जानना ही प्रेम है!

इसलिए जब हम किसी व्यक्ति को प्रेम करते हैं तभी हम जानते हैं। क्योंकि जब ह म प्रेम करते हैं तभी वह व्यक्ति हमारी तरफ खुलता है। जब हम प्रेम करते हैं तब हम उसमें प्रवेश करते हैं। जब हम प्रेम करते हैं तब वह निर्भय होता है। जब हम प्रेम करते हैं तब वह छिपाता नहीं। जब हम प्रेम करते हैं तब वह उघड़ता है, खु लता है, भीतर बुलाता है—आओ, अतिथि बनो! ठहराता है हृदय के घर में! जब कोई व्यक्ति प्रेम करता है किसी को, तभी जान पाता है।

अगर अस्तित्व को कोई प्रेम करता है, तभी जान पाता है परमात्मा को। भगवत-प्रे म का अर्थ है : जो भी है उसके होने के कारण प्रेम है। कुर्सी को हम प्रेम करते हैं क्योंकि उस पर हम बैठते हैं, आराम करते हैं। टूट जाएगी टांग उसकी, कचरे घर में फेंक देंगे। उसका कोई व्यक्तित्व नहीं है, उसे हटा देंगे। जो लोग मनुष्यों को भी इसी भांति प्रेम करते हैं उनका भी यही हाल है। पति को कोढ़ हो जाएगा तो पत्नी डायवोर्स दे देगी, अदालत में तलाक कर देगी—टूट गयी टांग कुर्सी की, हटाओ! पत नी कुरूप हो जाएगी, रुग्ण हो जाएगी, अस्वस्थ हो जाएगी, अंधी हो जाएगी, पति त लाक कर देगा—हटाओ!—तब तो वस्तु हो गए लोग!

जो व्यक्ति सिर्फ वस्तुओं को प्रेम करता है उसके लिए सारा जगत् मैटीरियल हो जा ता है—वस्तु-मात्र हो जाता है! व्यक्ति में भी वस्तु दिखायी पड़ती है, फिर भागवत्-चैतन्य तो कहीं दिखायी नहीं पड़ सकता।

भागवत-चैतन्य को अनुभव करने के लिए पहले वस्तुओं के प्रेम से व्यक्तियों के प्रेम तक उठना पड़ता है, फिर व्यक्तियों के प्रेम से अस्तित्व के प्रेम तक उठना पड़ता है। जो व्यक्ति व्यक्तियों को प्रेम करता है वह मध्य में आ जाता है। एक तरफ वस्तु ओं का जगत् होता है, दूसरी तरफ भगवान का अस्तित्व होता है। इन दोनों के बी च खड़ा हो जाता है। उसे दोनों तरफ दिखायी पड़ने लगता है—वस्तुओं का संसार अ ौर अस्तित्व का लोक! फिर वह आगे बढ़ सकता है।

सुना है मैंने, रामानुज एक गांव से गुजरते हैं। एक आदमी आया और उसने कहा कि मुझे भगवान से मिला दें। मुझे भगवान से प्रेम करा दें। मैं भगवत-प्रेम का प्यासा हूं। रामानुज ने कहा, ठहरो, इतनी जल्दी मत करो। तुमसे मैं कुछ पूछूं? तुमने क भी किसी को प्रेम किया है? उसने कहा, कभी नहीं, कभी नहीं! मुझे तो सिर्फ भगव ान से प्रेम है।

रामानुज ने कहा, कभी किसी को किया हो भूल-चूक से? उस आदमी ने कहा, बेका र की बातों में समय क्यों जाया करवा रहे हैं? प्रेम इत्यादि से मैं सदा दूर रहा हूं। मैंने कभी किसी को प्रेम किया ही नहीं। रामानुज ने कहा, फिर तुमसे कहता हूं, ए कबार सोचो, किसी को किया हो, किसी पौधे को किया हो, किसी आदमी को किय ा हो, किसी स्त्री को किया हो, किसी बच्चे को किया हो, किसी को भी किया हो?

स्वभावतः उस आदमी ने सोचा कि अगर मैं कहूं कि मैंने किसी को प्रेम किया है तो रामानुज कहेंगे कि अयोग्य है तू। इसलिए उसने कहा, मैंने किया ही नहीं। उसने कहा कि मैं साफ कहता हूं, प्रेम से मैं सदा दूर रहा, मुझे तो भगवत-प्रेम की आकांक्षा है। रामानुज ने कहा, फिर मैं बड़ी मुश्किल में हूं। फिर मैं कुछ भी न कर पाऊंगा क्योंकि अगर तूने किसी को थोड़ा भी प्रेम किया होता, तो उसी प्रेम की किरण के सहारे मैं तुझे भगवत-प्रेम के सूरज तक पहुंचा देता। थोड़ा-सा भी तूने किसी में झांका होता प्रेम से तो मैं तुझे पूरे अस्तित्व के द्वार में धक्का दे देता।

लेकिन तू कहता है कि तूने प्रेम किया ही नहीं, यह तो ऐसे हुआ कि मैं किसी आदमी से पूछूं कि तूने कभी रोशनी देखी? मिट्टी का दीया जलता हुआ देखा? वह कहे—नहीं, मुझे तो सूरज दिखा दें, दीया मैंने कभी देखा ही नहीं! पूछता हूं कि कभी तुझे एकाध किरण छप्पर में से फूटती हुई दिखायी पड़ी होगी! वह कहे—कहां की बातें कर रहे हैं? किरण वगैरह से अपना कोई संबंध ही नहीं, हम तो सूरज के प्रेमी हैं। तो रामानुज ने कहा, जैसे उस आदमी से मुझे कहना पड़े कि क्षमा कर, तू किरण भी नहीं खोज पाया, सूरज अब तुझे कैसे समझाऊं? क्योंकि हर किरण सूरज का रास्ता है। व्यक्ति का प्रेम भी भगवत-प्रेम की शुरूआत है। व्यक्ति का प्रेम एक छोटी-सी खिड़की है, झरोखा है, जिसमें से हम किसी एक व्यक्ति में से परमात्मा को देखते हैं। वह खिड़की है। तो, रामानुज ने कहा, तू एक में भी झांक सका हो तो मैं तुझे सबमें झांकने की कला बता दूं। लेकिन तू कहता है, तूने कभी झांका ही नहीं। हम वस्तुओं में जीते हैं, हम व्यक्तियों में झांकते नहीं। क्यों? क्या बात है? वस्तुओं के साथ बड़ी सुविधा है, व्यक्तियों के साथ झंझट है! छोटे-से व्यक्ति के साथ भी . . .घर में एक बच्चा पैदा हो जाए, अभी दो साल का बच्चा है, लेकिन वह भी उपद्रव है। व्यक्ति है, वह भी स्वतंत्रता मांगता है। उससे कहो, इस कोने में बैठो तो फिर उस कोने में बिल्कुल नहीं बैठता है। उससे कहो, बाहर मत जाओ तो बाहर जाता है। उससे कहो, फलां चीज मत छुओ तो छूकर दिखलाता है। मेरी भी आत्मा है, मैं भी हूं, आप ही नहीं हैं!

इसलिए आज अमरीका या फ्रांस या इंग्लैंड में लोग कहते हैं, एक बच्चे की बजाय एक टेलीविजन सेट खरीद लेना बेहतर है। टेलीविजन सेट का जब चाहो, बटन दबाओ कि चले—बंद करो, बंद हो जाए—'आन-आफ' होता है। व्यक्ति 'आन-आफ' नहीं होता। उसको आप नहीं कर सकते 'आन-आफ'!

एक छोटे-से बच्चे को मां दबा-दबाकर सुला रही है, 'आफ' करना चाह रही है, वह 'आन' हो-हो जा रहा है। वह कह रहा है नहीं, अभी नहीं सोना है। छोटा-सा बच्चा है। इनकार करता है कि उसके साथ वस्तु जैसा व्यवहार न किया जाए। उसके भीतर परमात्मा है। व्यक्ति से करने में डर लगता है, क्योंकि व्यक्ति स्वतंत्रता मांगेगा। वस्तुओं से प्रेम करना बड़ा सुविधापूर्ण है, वे स्वतंत्रता नहीं मांगतीं— तिजोरी में बंद किया, ताला डाला, आराम से सो रहे हैं। रुपए तिजोरी में बंद हैं—न भागते, न निकलते, न विद्रोह करते, न बगावत करते, न कहते कि आज इरादा नहीं है चलने

का हमारा। आज नहीं चलेंगे! नहीं, जब चाहो तब हाजिर होते हैं, जैसे चाहा वैसे हाजिर होते हैं। वस्तुएं गुलाम हो जाती हैं इसलिए हम वस्तुओं को चाहते हैं।
जो आदमी दूसरे की स्वतंत्रता नहीं चाहता वह आदमी व्यक्ति को प्रेम नहीं कर पाएगा। और जो व्यक्ति को प्रेम नहीं कर पाएगा वह भगवत-प्रेम के झरोखे पर ही नहीं पहुंचा, तो भगवत-प्रेम के आकाश में तो उतरने का उपाय नहीं है।
भगवत-प्रेम का अर्थ है : सारा जगत् एक व्यक्तित्व है--'द होल एक्जिसटेंस इज पर्सनल'। भगवत-प्रेम का अर्थ है : जगत् नहीं है, भगवान है! इसका मतलब समझते हैं ? अस्तित्त्व नहीं है, भगवान है। क्या मतलब हुआ? इसका मतलब हुआ कि हम पूरे अस्तित्व को व्यक्तित्व दे रहे हैं। हम पूरे अस्तित्व को कह रहे हैं कि तू भी है। हम तुझसे बात भी कर सकते हैं।
इसलिए--भक्त . . . भक्त का अर्थ है : जगत् को जिसने व्यक्तित्व दिया! भक्त का अर्थ है : जगत को जिसने भगवान कहा! भक्त का अर्थ है : ऐसा प्रेम से भरा हुआ हृदय जो इस पूरे अस्तित्व से एक व्यक्ति की तरह व्यवहार करता है। सुबह उठता है तो सूरज को हाथ जोड़कर नमस्कार करता है--सूरज को! नासमझ नहीं कर रहे हैं हालांकि . . . बहुत से नासमझ नमस्कार कर रहे हैं! लेकिन जिन्होंने शुरू किया था वे नासमझ नहीं थे। सूरज को नमस्कार उस आदमी ने किया था जिसने सारे अस्तित्व को व्यक्तित्व दे दिया था। फिर सूरज का भी व्यक्तित्व था।
तो हमने कहा, सूर्य देवता है--रथ पर सवार है, घोड़ों पर जुता हुआ है, दौड़ता आकाश में है। सुबह होती जागता, सांझ होती अस्त होता है। ये बातें वैज्ञानिक नहीं हैं। ये बातें धार्मिक हैं। ये बातें पदार्थगत नहीं हैं, ये बातें आत्मगत हैं। नदियों को नमस्कार किया, व्यक्तित्व दे दिया! वृक्षों को नमस्कार किया, व्यक्तित्व दे दिया! सारे जगत् को व्यक्तित्व दे दिया, कहा कि तुममें भी व्यक्तित्व है।
आज भी आप कभी किसी पीपल के पास नमस्कार करके गुजर जाते हैं, लेकिन आपने खयाल नहीं किया होगा कि जो आदमी आदमियों से वस्तु-जैसा व्यवहार करता है उसका पीपल को नमस्कार करना एकदम सरासर झूठ है। पीपल को तो वही नमस्कार कर सकता है जो जानता है कि पीपल भी व्यक्ति है। वह भी परमात्मा का हिस्सा है। उसके पत्ते-पत्ते में भी उसी की छाप है। कंकड़-कंकड़ में भी उसी की पहचान है। जगह-जगह वही है, अनेक-अनेक रूपों में--चेहरे होंगे भिन्न! वह जो भीतर छिपा है वह भिन्न नहीं है। आंखें होंगी अनेक, लेकिन जो झांकता है उससे वह एक है। हाथ होंगे अनंत, लेकिन जो स्पर्श करता है उनसे, वह वही है।
गदर के समय, अठारह सौ सत्तावन में एक संन्यासी, जो पंद्रह वर्ष से मौन था, नग्न रात में गुजर रहा था। चांदनी रात थी, चांद था आकाश में, वह नाच रहा था, गीत गा रहा था। धन्यवाद दे रहा था चांद को। उसे पता नहीं था कि उसकी मौत करीब है। नाचते हुए वह निकल गया नदी की तरफ। बीच में अंग्रेज फौज का पड़ाव था। फौजियों ने समझा कि यह कोई जासूस मालूम पड़ता है। तरकीब निकाली है इसने कि नग्न होकर फौजी पड़ाव से गुजर रहा है। उन्होंने पकड़ लिया।

और जब उससे पूछताछ की और वह नहीं बोला तब शक और भी पक्का हो गया कि वह जासूस है। बोलता क्यों नहीं? हंसता है, मुस्कुराता है, नाचता है—बोलता नहीं? मैंने इसलिए कहा गीत गाता हुआ कि वाणी से नहीं, ऐसे भी गीत हैं जो प्राणों से गाए जाते हैं—ऐसे भी गीत हैं जो शून्य में उठते और शून्य में ही खो जाते हैं। वह तो मौन था, शब्द से तो चुप था, पर गीत गाता हुआ, नाचता हुआ, अपने समग्र अस्तित्व से, पूर्णिमा के चांद को धन्यवाद दे रहा था।

सिपाहियों ने कहा, बोलता क्यों नहीं? मुस्कुराता है, बेईमान है, जासूस है। उन्होंने भाला उसकी छाती में भोंक दिया। उस संन्यासी ने संकल्प लिया था कि एक ही शब्द बोलूंगा, आखिरी, अंतिम और मृत्यु के द्वार पर। इस जगत् से पार होते हुए धन्यवाद का एक शब्द बोलूंगा इस पार—बोलकर विदा हो जाऊंगा। कठिन पड़ा होगा उसको कि क्या शब्द बोले!

छाती में घुस गया भाला, खून के फव्वारे बरसने लगे। वह जो नाचता था, मरने के करीब पहुंच गया। उस संन्यासी ने कहा 'तत्त्वमसि श्वेतकेतु'!— उपनिषद् का महावाक्य! उसने कहा, श्वेतकेतु, तू भी वही है—'दैट आर्ट दाऊ'—तू भी वही है! नहीं समझे होंगे वे अंग्रेज सिपाही, लेकिन उस अंग्रेज सिपाही से जिसने उसकी छाती में भाला भोंका, उसने कहा, तू भी वही है!

इस खिड़की में से भी वह उसी को देख पाया। इस भाला भोंकती हुई खिड़की में से भी उसी का दर्शन हुआ। भगवत-प्रेम को उपलब्ध हुआ होगा तभी ऐसा हो सकता है, अन्यथा नहीं हो सकता।

भगवत-प्रेम का अर्थ है : सारा जगत् व्यक्ति है। व्यक्तित्व है जगत् के पास अपना, उससे बात की जा सकती है। इसलिए भक्त बोल लेता है उससे। मीरा पागल मालूम पड़ती है दूसरों को, क्योंकि वह बातें कर रही है कृष्ण से। हमें पागल मालूम पड़ेगी क्योंकि हमारे लिए तो वस्तुओं के अतिरिक्त जगत् में और कुछ भी नहीं है। व्यक्ति भी नहीं है तो परम व्यक्ति कैसे होगा? लेकिन मीरा बातें कर रही है उससे। सूरदास उसका हाथ पकड़कर चल रहे हैं—आदान-प्रदान हो रहा है, 'डायलॉग' है, चर्चा होती है, प्रश्न-उत्तर हो जाते हैं। पूछा जाता है और प्रतिसंवाद हो जाता है।

जब जीसस सूली पर लटके और उन्होंने ऊपर आंख उठाकर कहा—'हे प्रभु, माफ कर देना इन सबको क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं!' तब यह आकाश से नहीं कहा होगा। आकाश से कोई बोलता है? यह आकाश में उड़ते पक्षियों से नहीं कहा होगा! पक्षियों से कोई बोलता है? भीड़ खड़ी थी नीचे, उसने भी आकाश की तरफ देखा होगा लेकिन आकाश में चलती हुई सफेद बदलियों के अलावा कुछ भी दिखाई नहीं पड़ा होगा। नीला आकाश खाली और शून्य—लोग हंसे होंगे मन में कि पागल है! लेकिन जीसस के लिए सारा जगत् प्रभु है। कह दिया कि क्षमा कर देना इन्हें क्योंकि इन्हें पता नहीं कि ये क्या कर रहे हैं!

भगवत-प्रेम हो तो व्यक्ति और परम व्यक्ति के बीच चर्चा हो पाती है, संवाद हो पाता है। आदान-प्रदान हो पाता है और उससे मधुर संवाद, उससे मीठा लेन-देन, उस

से प्रेमपूर्ण व्यवहार और कोई भी नहीं है—प्रार्थना उसका नाम है, भगवत-प्रेम में वह घटित होती है।

भगवत-प्रेम से भरा हुआ व्यक्ति इस लोक में भी आनंद को उपलब्ध होता है, उस लोक में भी। लेकिन संशय से भरा हुआ, भगवत-प्रेम से रिक्त, इस लोक में भी दुःख पाता है, उस लोक में भी। दुःख हमारा अपना अर्जन है—हमारी अपनी 'आ●●न ग' है। दुःख पाना हमारी नियति नहीं, हमारी भूल है।

दुःख पाने के लिए हमारे अतिरिक्त और कोई उत्तरदायी नहीं, और कोई रिस्पोंसिबल नहीं है। दुःखी हैं तो कारण है कि संशय को जगह दे दी, दुःख हैं तो कारण है कि व्यक्ति को खोजा नहीं, परम व्यक्ति की तरफ गए नहीं। आनंदित जो होता है उसके ऊपर परमात्मा कोई विशेष कृपा नहीं करता है, वह केवल उपयोग कर लेता है जीवन के अवसर का, और प्रभु के प्रसाद से भर जाता है।

गड्ढे हैं, वर्षा होती है तो गड्ढों में पानी भर जाता है और झीलें बन जाती हैं। पर्वत शिखरों पर भी वर्षा होती है लेकिन पर्वत के शिखरों पर झील नहीं बनती, पानी नीचे बहकर गड्ढों में पहुंचकर झील बन जाता है। पर्वत शिखरों पर वर्षा होती है, लेकिन वे पहले से ही भरे हुए हैं। उनमें जगह नहीं है कि पानी भर जाए। झीलें खाली हैं इसलिए पानी भर जाता है।

जो व्यक्ति संशय से भरा है, भगवत-प्रेम से खाली है, उसके पास संशय का पहाड़ होता है। ध्यान रखें, बीमारियां अकेली नहीं आतीं, बीमारियां सदा समूह में आती हैं। बीमारियां भीड़ में आती हैं। ऐसा नहीं होता है कि किसी आदमी में एक संशय मिल जाए, जब संशय होता है तो अनेक संशय होते हैं।

संशय भीड़ में आते हैं। स्वास्थ्य अकेला आता है, बीमारियां भीड़ में आती हैं। श्रद्धा अकेली आती है, संशय बहुवचन में आते हैं। संशय से भरा हुआ आदमी पहाड़ बन जाता है। उस पर भी प्रभु का प्रसाद बरसता है लेकिन भर नहीं पाता। संशय-मुक्त झील बन जाता है—गड्ढा, खाली, शून्य! प्रभु के प्रसाद को ग्रहण करने के लिए गर्भ बन जाता है, स्वीकार कर लेता है।

इसलिए ध्यान रखें, निरंतर भक्तों ने अगर भगवान को प्रेमी की तरह माना तो उसका कारण है। अगर भक्त इस सीमा तक चले गए कि अपने को स्त्रैण भी मान लिया और प्रभु को पति भी मान लिया तो उसका भी कारण है। और वह कारण है, गड्ढा बनना है, ग्राहक बनना है, रिसेप्टिव बनना है। स्त्री ग्राहक है, रिसेप्टिव है, गर्भ बनती है, स्वीकार करती है। नए को अपने भीतर जन्म देती है, बढ़ाती है।

अगर भक्तों को ऐसा लगा कि वे प्रेमिकाएं बन जाएं प्रभु की तो उसका कारण है कि वे गड्ढे बन जाए, प्रभु उनमें भर जाए! जो अहंकार के शिखर हैं वे खाली रह जाते हैं और जो विनम्रता के गड्ढे हैं वे भर जाते हैं। प्रभु का प्रसाद प्रतिपल बरस रहा है। उसके प्रसाद की उपलब्धि आनंद है! उसके प्रसाद से वंचित रह जाना संताप है, दुःख है!

जागते– जागते . . .●●●●●●१. परमात्मा की चाह नहीं हो सकती

मन मांगता रहता है संसार को, वासनाएं दौड़ती रहती हैं वस्तुओं की तरफ, शरीर आतुर होता है शरीरों के लिए, आकांक्षाएं विक्षिप्त रहती हैं पूर्ति के लिए। हमारा जीवन आग की लपट है, वासनाएं जलती हैं उन लपटों में—आकांक्षाएं, इच्छाएं जलती हैं। गीला ईंधन जलता है इच्छा का, और सब धुआं-धुआं हो जाता है। इन लपटों में जलते हुए कभी-कभी मन थकता भी है, बेचैन भी होता है, निराश भी, हताश भी होता है।

हताशा में, बेचैनी में कभी-कभी प्रभु की तरफ भी मुड़ता है। दौड़ते-दौड़ते इच्छाओं के साथ कभी-कभी प्रार्थना करने का मन भी हो जाता है। दौड़ते-दौड़ते वासनाओं के साथ कभी-कभी प्रभु की सन्निधि में आंख बंदकर ध्यान में डूब जाने की कामना भी जन्म लेती है। बाजार की भीड़-भाड़ से हटकर कभी मंदिर के एकांत, मस्जिद के एकांत कोने में डूब जाने का खयाल भी उठता है।

लेकिन वासनाओं से थका हुआ आदमी मंदिर में बैठकर पुनः वासनाओं की मांग शुरू कर देता है। बाजार से थका आदमी मंदिर में बैठकर पुनः बाजार का विचार शुरू कर देता है। क्योंकि बाजार से वह थका है, जागा नहीं; वासना से थका है, जागा नहीं। इच्छाओं से मुक्त नहीं हुआ, रिक्त नहीं हुआ, केवल इच्छाओं से विश्राम के लिए मंदिर चला आया। उस विश्राम में फिर इच्छाएं ताजा हो जाती हैं।

प्रार्थना में जुड़े हुए हाथ भी संसार की ही मांग करते हैं। यज्ञ की वेदी के आस-पास घूमता हुआ साधक, या याचक भी पत्नी मांगता है, पुत्र मांगता है, गौएं मांगता है, धन मांगता है, यश, राज्य, साम्राज्य मांगता है।

असल में जिसके चित्त में संसार है उसकी प्रार्थना में संसार ही होगा। जिसके चित्त में वासनाओं का जाल है उसके प्रार्थना के स्वर भी उन्हीं वासनाओं के धुएं को पकड़कर कुरूप हो जाते हैं। यहां एक बात और समझ लेनी जरूरी है कि जब कहते हैं, सांसारिक मांग नहीं, तो अनेक बार मन में खयाल उठता है तो गैर-सांसारिक मांग तो हो सकती है न! जब कहते हैं, संसार की वस्तुओं की कोई चाह नहीं, तो खयाल उठ सकता है कि मोक्ष की वस्तुओं की चाह तो हो सकती है न! नहीं मांगते संसार को, नहीं मांगते धन को, नहीं मांगते वस्तुओं को—मांगते हैं शांति को, आनंद को। छोड़ें, इन्हें भी नहीं मांगते—मांगते हैं प्रभु के दर्शन को, मुक्ति को, ज्ञान को। यहीं वह बात समझ लेनी जरूरी है कि सांसारिक मांग तो सांसारिक होती है, मांग-मात्र सांसारिक होती है। वासनाएं सांसारिक हैं यह तो ठीक है, लेकिन वासना-मात्र सांसारिक है, यह भी स्मरण रख लें! शांति की कोई मांग नहीं होती, अशांति से मु

क्त होती है। और शांति परिणाम होती है। शांति को मांगा नहीं जा सकता, सिर्फ अशांति को छोड़ा जा सकता है और शांति मिलती है। और जो शांति को मांगता है वह कभी शांत नहीं होता है क्योंकि उसकी शांति की मांग, सिर्फ एक और अशांति का जन्म होता है।

इसलिए साधारणतया अशांत आदमी इतना अशांत नहीं होता जितना शांति की चेष्ट ा में लगा हुआ आदमी अशांत हो जाता है। अशांत तो होता ही है, यह शांति की चेष्टा और अशांत करती है। यह भी मांग है, यह भी इच्छा है, यह भी वासना है। मोक्ष मांगा नहीं जा सकता। क्योंकि जब तक मोक्ष की मांग है, जब तक मांग है, तब तक बंधन है। फिर बंधन और मोक्ष का मिलन कैसा? हां, बंधन न रहे तो जो रह जाता है, वह मोक्ष है।

हम परमात्मा को चाह नहीं सकते, क्योंकि चाह ही तो परमात्मा और हमारे बीच बाधा है। ऐसा नहीं कि धन की चाह बाधा है, चाह ही—'डिजायर एज सच' बाधा है। ऐसा नहीं कि इस चीज की चाह बाधा है और इस चीज की चाह बाधा नहीं है —न, चाह ही बाधा है। क्योंकि चाह ही तनाव है, चाह ही असंतोष है। चाह ही, जो नहीं है उसकी कामना है—जो है उसमें तृप्ति नहीं। अगर ठीक से कहें तो सांसारिक चाह कहना ठीक नहीं, चाह का नाम संसार है। वासना ही संसार है, सांसारिक वा सना कहना ठीक नहीं।

लेकिन हम भाषा में भूलें करते हैं। सामान्य करते हैं तब तो कठिनाई नहीं आती, च ल जाता है लेकिन जब इतने सूक्ष्म और नाजुक मसलों में भूलें होती हैं, तो कठिनाई हो जाती है।

भूलें भाषा में हैं, क्योंकि अज्ञानी भाषा निर्मित करता है। और ज्ञानी की अब तक क ोई भाषा नहीं है। उसको भी अज्ञानी की भाषा का ही उपयोग करना पड़ता है। ज्ञान ी की भाषा हो भी नहीं सकती क्योंकि ज्ञान मौन है, मुखर नहीं—मूक है! ज्ञान के प ास जबान नहीं, ज्ञान 'साइलेंस' है—शून्य है! ज्ञान के पास शब्द नहीं। शब्द उठने त क की भी अशांति ज्ञान में नहीं है।

इसलिए अज्ञानी की भाषा ही ज्ञानी को उपयोग करनी पड़ती है। फिर भूलें होती हैं, जैसे यह भूल निरंतर हो जाती है। हम कहते हैं, संसार की चीजों को मत चाहो— कहना चाहिए, चाहो ही मत, क्योंकि चाह का नाम ही संसार है। हम कहते हैं, मन को शांत करो—ठीक नहीं है यह कहना। क्योंकि शांत मन जैसी कोई चीज होती न हीं।

अशांति का नाम ही मन है। जब तक अशांति है तब तक मन है; नहीं तो मन भी नहीं। जहां शांति हुई वहां मन तिरोहित हुआ। ऐसा समझें—तूफान आया है, लहरों में सागर की। फिर हम कहते हैं, तूफान शांत हो गया। जब तूफान शांत हो जाता है तो क्या सागर-तट पर खोजने से शांत तूफान मिल सकेगा? हम कहते हैं, तूफान शांत हो गया तो पूछा जा सकता है, शांत तूफान कहां है? शांत तूफान होता ही नहीं। तूफान का नाम ही अशांति है।

शांत तूफान—मतलब तूफान मर गया, अब तूफान नहीं है। शांत मन का अर्थ, मन मर गया, अब मन नहीं है। चाह के छूटने का अर्थ, संसार गया, अब नहीं है। जहां चाह नहीं, वहां परमात्मा है। जहां चाह है, वहां संसार है। इसलिए परमात्मा की च ाह नहीं हो सकती और अनचाहा संसार नहीं हो सकता। ये दो बातें नहीं हो सकतीं।

अज्ञान से ऊबे, थके, घबराए हुए लोग विश्राम के लिए, विराम के लिए, धर्म, पूजा, प्रार्थना, ध्यान, उपासना में आते हैं। लेकिन मांगें उनकी साथ चली आती हैं। चित्त उनका साथ चला आता है। एक आदमी दुकान से उठा और मंदिर में गया, जूते ब ाहर छोड़ देता, मन को भीतर ले जाता है। जूते भीतर ले जाए तो बहुत हर्जा नहीं है, मन को बाहर छोड़ जाए। जूते से मंदिर अपवित्र नहीं होगा। जूते में ऐसा कुछ भी अपवित्र नहीं है, मगर मन भीतर ले जाता है।

मैं यह नहीं कह रहा हूं कि जूते भीतर ले जाना। घर से चलता है तो स्नान कर लेता है, शरीर धो लेता है। मगर मन? मन वैसा का वैसा बासा, पसीने की बदबू से भरा, दिन-भर की वासनाओं की गंध से पूरी तरह लबालब, दिन-भर के धूल कणों से बुरी तरह आच्छादित! उसी गंदे मन को लेकर वह मंदिर में प्रवेश कर जाता है। फिर जब हाथ जोड़ता है तो हाथ धुले होते हैं लेकिन जुड़े हुए हाथों के पीछे मन गैर-धुला होता है। आंखें तो परमात्मा को देखने के लिए उठती हैं लेकिन भीतर से मन परमात्मा को देखने के लिए नहीं उठता। वहां फिर वस्तुओं की कामना और वा सना लौट आती है।

हाथ जुड़ते परमात्मा से कुछ मांगने के लिए! और जब भी हाथ कुछ मांगने कि लि ए जुड़ते हैं तभी प्रार्थना का अंत हो जाता है। मांग और प्रार्थना का कोई मेल नहीं। फिर प्रार्थना क्या है? प्रार्थना सिर्फ धन्यवाद है, मांग नहीं—'डिमांड' नहीं, 'थैंक्स गि विंग'—सिर्फ धन्यवाद। जो मिला है वह इतना काफी है कि उसके लिए मंदिर धन्यवा द देने जाना चाहिए।

धार्मिक आदमी वही है जो मंदिर धन्यवाद देने जाता है। अधार्मिक वह नहीं जो मंदि र नहीं जाता—नहीं जाता, वह तो अधार्मिक है ही— अधार्मिक असली वह है जो मंि दर मांगने जाता है।

छोड़ें वासनाओं को, छोड़ें भविष्य को, छोड़ें सपनों को, छोड़ें अंततः अपने को—ऐसे ि जएं जैसे प्रभु ही आपके भीतर से जीता है। ऐसे जिएं जैसे चारों ओर प्रभु ही जीता है, ऐसे करें कृत्य, जैसे प्रभु ही करवाता है। जैसे प्रत्येक करने के पीछे प्रभु ही फ ल को लेने, हाथ फैलाकर खड़ा है। तब ज्ञान घटित होता है। ज्ञान परम मुक्ति है, 'द अल्टीमेट फ्रीडम'! अज्ञान बंधन है, ज्ञान मुक्ति है! अज्ञान रुग्णता है, ज्ञान स्वास्थ्य है!

यह स्वास्थ्य शब्द बहुत अद्‌भुत है। दुनिया की किसी भाषा में उसका ठीक-ठीक अनु वाद नहीं है। अंग्रेजी में हेल्थ है, और पश्चिम की सभी भाषाओं में हेल्थ से मिलते-जुलते शब्द हैं। हेल्थ का मतलब होता है हीलिंग, घाव का भरना—शारीरिक शब्द है,

गहरे नहीं जाता। स्वास्थ्य बहुत गहरा शब्द है। उसका अर्थ हेल्थ ही नहीं होता, हेल्थ तो होता ही है, घाव का भरना तो होता ही है, स्वास्थ्य का अर्थ है : स्वयं में स्थित हो जाना—'टू बी इन वनसेल्फ'। आध्यात्मिक बीमारी से संबंधित है स्वास्थ्य। स्वास्थ्य का अर्थ है : स्वयं में ठहर जाना—इंचभर भी न हिलना, पलभर भी न कंपना। जरा-सा भी कंपन न रह जाए भीतर, वैवरींग जरा भी न रह जाए, बस तब स्वास्थ्य फलित होता है।

वैवरींग क्यों? कंपन क्यों है, कभी आपने खयाल किया? जितनी तेज इच्छा होगी उतना ही कंपन हो जाता है भीतर। इच्छा नहीं होती, कंपन खो जाता है। इच्छा ही कंपन है। आप कंपते कब हैं? दीया जल रहा है, कंपन कब है? जब हवा का झोंका लगता है। हवा का झोंका न लगे तो दीया निष्कंप हो जाता है, ठहर जाता है, स्वस्थ हो जाता है, अपनी जगह हो जाता है। जहां होना चाहिए वहां हो जाता है। हवा के धक्के लगते हैं तो ज्योति वहां हट जाती है जहां नहीं होनी चाहिए। जगह से च्युत हो जाती है, रुग्ण हो जाती है, कंपित हो जाती है। और जब कंपित होती है तब बुझने का, मौत का डर पैदा हो जाता है। जोर की हवा आती है तो ज्योति बुझने-बुझने को, मरने-मरने को होने लगती है।

ठीक ऐसे ही इच्छाओं की तीव्र हवाओं में, वासना के तीव्र ज्वर में कंपती है चेतना! इसलिए यह भी खयाल में ले लें—जो वासना से मुक्त हुआ, वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है। दीए की लौ हवा के धक्कों से मुक्त हुई, फिर उसे क्या मौत का डर? मौत का डर खो गया। लेकिन जब तूफान की हवा बहती है तो दीया कंपता है और डरता है कि मरा . . .अब मरा! ठीक हमारी अज्ञान की अवस्था में ऐसे ही चित्त होता है। एक कंपन छूटता है तो दूसरा कंपन शुरू होता है। एक वासना हटती है तो दूसरा झोंका वासना का आता है—कहीं कोई विराम नहीं, कहीं कोई विश्राम नहीं।

वासना का कंपन ही 'स्प्रिच्युअल डिसीज', आध्यात्मिक रुग्णता है! कंपन का अर्थ ही है कि स्थिति में नहीं। इसलिए कहा जाता है कि ज्ञान परम मुक्ति है क्योंकि ज्ञान परम स्वास्थ्य है। वह कैसे होगा उपलब्ध ? वासना से जो मुक्त हो जाता है—मांग से, चाह से, जो मुक्त हो जाता है वही ज्ञान में प्रतिष्ठित हो जाता है!

२. भागे हिरन और भटके राम

हमारा अनुभव यह है कि हमने जहां-जहां कामना का फूल तोड़ना चाहा वहीं दुःख का कांटा हाथ में लगा। जहां-जहां कामना के फूल के लिए हाथ बढ़ाया, फूल दिखायी पड़ा, जब तक हाथ में न आया—जब हाथ में आया तो रह गया सिर्फ लहू, खून! कांटा चुभा, फूल तिरोहित हो गया। लेकिन मनुष्य अद्‌भुत है। उसका सबसे अद्‌भुत होना इस बात में है कि वह अनुभव से सीखता नहीं। शायद ऐसा कहना भी ठीक नहीं। कहना चाहिए, मनुष्य अनुभव से सदा गलत सीखता है। उसने हाथ बढ़ाया और फूल हाथ में न आया, कांटा हाथ में आया तो वह यही सीखता है कि मैंने गलत

फूल की तरफ ही हाथ बढ़ा दिया। अब मैं ठीक फूल की तरफ हाथ बढ़ाऊंगा। यह नहीं सीखता कि फूल की तरफ हाथ बढ़ाना ही गलत है।

साधारण आदमियों की बात हम छोड़ दें। स्वयं राम अपनी कुटिया के बाहर बैठे हैं और एक स्वर्ण-मृग दिखाई पड़ जाता है—स्वर्ण-मृग! सोने का हिरण होता नहीं, पर जो नहीं होता वह दिखाई पड़ सकता है। जिंदगी में बहुत कुछ दिखाई पड़ता है, जो है ही नहीं। परंतु जो है वह दिखाई नहीं पड़ता है। स्वर्ण-मृग दिखाई पड़ता है, राम उठा लेते हैं धनुष-बाण। सीता कहती है, जाओ, ले आओ इसका चर्म। राम निकल पड़ते हैं स्वर्ण-मृग को मारने।

यह कथा बड़ी मीठी है। सोने का मृग भी कहीं होता है? लेकिन आपको कहीं दिखाई पड़ जाए तो रुकना मुश्किल हो जाए। असली मृग हो तो रुका भी जाए, सोने का मृग दिखाई पड़ जाए तो रुकना मुश्किल हो जाएगा। हम सभी सोने के मृग के पीछे ही भटकते हैं। एक अर्थ में हम सबके भीतर का राम सोने के मृग के लिए ही तो भटकता है, और हम सबके भीतर की सीता भी उकसाती है, जाओ सोने के मृग को ले आओ!

हम सबके भीतर की कामना, हम सब के भीतर की वासना, हम सबके भीतर की 'डिजायरिंग' कहती है भीतर की शक्ति को, उस ऊर्जा को, उस राम को, कि जाओ तुम —'इच्छा है सीता, शक्ति है राम'! कहती है, जाओ, स्वर्ण-मृग को ले आओ! राम दौड़ते-फिरते हैं। स्वर्ण-मृग हाथ में न आए तो लगता है कि अपनी कोशिश में कुछ कमी रह गयी . . . और तेजी से दौड़ो! स्वर्ण-मृग को तीर मारो ताकि वह गिर जाए, न ठीक निशाना लगे तो लगता है कि विषधर तीर बनाओ; लेकिन यह खयाल में नहीं आता कि स्वर्ण-मृग होता ही नहीं!

कामना के फूल आकाशकुसुम हैं, होते नहीं। जैसे धरती पर तारे नहीं होते वैसे आकाश में फूल नहीं होते। कामना के कुसुम या तो धरती के तारे हैं या आकाश के फूल। सकाम हमारी दौड़ है। बार-बार थककर गिर-गिरकर भी, बार-बार कांटों से उलझकर भी फूल की आकांक्षा नहीं जाती—दुःख हाथ लगता है। लेकिन कभी हम दूसरा प्रयोग करने को नहीं सोचते । वह दूसरा प्रयोग है निष्काम भाव का।

बड़ा मजा है, निष्काम भाव से कांटा भी पकड़ा जाए तो पकड़ने पर पता चलता है कि फूल हो गया। ऐसा ही 'पेराडोक्स' है, ऐसा ही जिंदगी का नियम है। ऐसा होता है। आपने एक अनुभव तो करके देख लिया। फूल को पकड़ा और कांटा हाथ में आया, यह आप देख चुके। और अगर ऐसा हो सकता है कि फूल पकड़ें और कांटा हाथ में आए तो उल्टा क्यों नहीं हो सकता है कि कांटा पकड़ें और फूल हाथ में आ जाए? क्यों नहीं हो सकता ऐसा? अगर यह हो सकता है तो इससे उल्टा होने में कौन-सी कठिनाई है? हां, जो जानते हैं वे तो कहते हैं, होता है!

एक प्रयोग करके देखें। चौबीस घंटे में एकाध काम निष्काम करके देखें, सब तो करने मुश्किल हैं—सिर्फ एकाध काम! चौबीस घंटे में एक काम सिर्फ निष्काम करके देखें। छोटा-सा ही काम, ऐसा कि जिसका कोई बहुत अर्थ नहीं होता। रास्ते पर किसी

को बिल्कुल निष्काम नमस्कार करके देखें। उसमें तो कुछ खर्च नहीं होता! लेकिन ल ोग निष्काम नमस्कार तक नहीं कर सकते। नमस्कार तक में कामना होती है। मिनिस्टर है, तो नमस्कार हो जाता है। पता नहीं, कब काम पड़ जाए? मिनिस्टर नहीं रह ा अब, 'एक्स' हो गया, तो कोई उसकी तरफ देखता ही नहीं। स्वयं मिनिस्टर ही अ ब नमस्कार करता है। वह इसलिए नमस्कार करता है कि फिर कभी काम पड़ सक ता है। कामना के बिना नमस्कार तक नहीं रहा। कम से कम नमस्कार तो बिना का मना के करके देखें।

आप हैरान हो जाएंगे, अगर साधारण से जन को भी, राहगीर को भी, अपरिचित को भी हाथ जोड़कर नमस्कार कर लें, बिना कामना के, तो भीतर तत्काल पाएंगे ि क आनंद की एक झलक आ गयी—सिर्फ नमस्कार ही, कोई बड़ा कृत्य नहीं, कोई ब. डी 'डीड ' नहीं। कुछ नहीं, सिर्फ हाथ जोड़ें निष्काम और पाएंगे कि एक लहर शांि त की दौड़ गयी। एक अनुग्रह, एक ईश्वर की कृपा भीतर दौड़ गयी। और अगर अ नुभव आने लगे तो फिर बड़े काम में भी निष्काम होने की भावना जगने लगेगी। जब इतने छोटे काम में इतनी आनंद की पुलक पैदा होती है, तो जितना बड़ा काम होगा उतनी बड़ी आनंद की पुलक पैदा होगी। फिर तो धीरे-धीरे पूरा जीवन निष्का म होता चला जाएगा।

३. पाप कभी पुण्य से नहीं कटता

यह प्रश्न सनातन है, सदा ही पूछा जाता रहा है। बहुत हैं पाप आदमी के, अनंत हैं, अनंत जन्मों के हैं। गहन है, लंबी है श्रृंखला पाप की। इस लंबी पाप की श्रृंखला क ो क्या ज्ञान का एक अनुभव तोड़ पाएगा? इतने बड़े विराट पाप को क्या ज्ञान की एक किरण नष्ट कर पाएगी? जो नीतिशास्त्री हैं, नीतिशास्त्री अर्थात् जिन्हें धर्म का कोई भी पता नहीं, जिनका चिंतन पाप और पुण्य के ऊपर कभी गया नहीं, वे कहें गे, जितना किया पाप, उतना ही पुण्य करना पड़ा है। एक-एक पाप को एक-एक पु ण्य से काटना पड़ेगा, तब बैलेंस, तब ऋण-धन बराबर होगा, तब हानि-लाभ बराब र होगा और व्यक्ति होगा।

जो नीतिशास्त्री हैं 'मोरलिस्ट' हैं, जिन्हें आत्म-अनुभव का कुछ भी पता नहीं, जिन्हें 'बीइंग' का कुछ भी पता नहीं, जिन्हें आत्मा का कुछ भी पता नहीं, जो सिर्फ 'डी ड' का, कर्म का हिसाब-किताब रखते हैं—वे यही कहेंगे, एक-एक पाप के लिए एक -एक पुण्य साधना पड़ेगा। अगर अनंत पाप हैं तो अनंत पुण्यों के अतिरिक्त कोई उ पाय नहीं। लेकिन मैं कहता हूं तब मुक्ति असंभव है।

दो कारण से असंभव है—एक तो इसलिए असंभव है कि अनंत श्रृंखला है पाप की अ ौर अनंत पुण्यों की श्रृंखला करनी पड़ेगी। इसलिए भी असंभव है कि कितने ही कोई पुण्य करे, पुण्य करने के लिए भी पाप करने पड़ते हैं।

एक आदमी धर्मशाला बनाए, तो पहले ब्लैक मार्केट करे। ब्लैक मार्केट के बिना धर्म शाला नहीं बन सकती। एक आदमी मंदिर बनाए तो पहले लोगों की गर्दनें काटे। ग

र्दनें काटे बिना मंदिर की नींव का पत्थर नहीं पड़ता। एक आदमी पुण्य करने के लिए कम से कम जिएगा तो सही, और जीने में ही हजार पाप हो जाते हैं—चलेगा तो, हिंसा होगी—उठेगा तो, हिंसा होगी—बैठेगा तो, हिंसा होगी। श्वास भी लेगा तो . . .

वैज्ञानिक कहते हैं, एक श्वास में कोई एक लाख छोटे जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। बोलेगा तो . . . एक बार ओंठ ओंठ से मिला और खुला, करीब एक लाख सूक्ष्म जीवाणु नष्ट हो जाते हैं। किसी का चुंबन आप लेते हैं, लाखों जीवाणुओं का आदान-प्रदान हो जाता है। कई मर जाते हैं बेचारे। जीने में ही पाप हो जाएगा। पुण्य करने के लिए ही पाप हो जाएगा।

तब तो यह अनंत वर्तुल है, 'विशियस सर्किल' है, दुष्ट चक्र है, इसके बाहर आप जा नहीं सकते। अगर पुण्य से पाप को काटने की कोशिश की तो पुण्य करने में पाप हो जाएगा। फिर उस पाप को काटने की पुण्य से कोशिश की, फिर उस पुण्य करने में पाप हो जाएगा। हर बार पाप को काटना पड़ेगा, हर बार पुण्य से काटेंगे, और पुण्य नए पाप करवा जाएगा। इस वर्तुल का कभी अंत नहीं होगा। इसलिए नैतिक व्यक्ति कभी मुक्त नहीं हो सकता। नैतिक दृष्टि कभी मुक्ति तक नहीं जा सकती। नैतिक दृष्टि तो चक्कर में ही पड़ी रह जाती है।

एक बहुत ही और दृष्टि की बात —गहरी दृष्टि की बात जो भी जानते हैं, वह करेंगे। वे कहेंगे अगर आप सब पापियों में भी सबसे बड़े पापी हैं, 'द ग्रेटेस्ट सिनर'—अस्तित्व में जितने पापी हैं, उनमें सबसे बड़े पापी हैं, तो भी ज्ञान की एक घटना आपके सब पापों को क्षीण कर देगी। क्या मतलब हुआ इसका? इसका मतलब यही हुआ कि पाप की कोई सघनता नहीं होती, पाप की कोई 'डेंसिटी' नहीं होती। पाप है अंधेरे की तरह।

एक घर में अंधेरा है हजार साल से, दरवाजे बंद और ताले बंद! हजार साल पुराना अंधेरा है और आप दीया जलाएंगे, तो अंधेरा कहेगा क्या, कि इतने से काम नहीं चलेगा? आप हजार●●●●●●साल तक दीए जलाएं तब मैं कटूंगा। नहीं, आपने दीया जलाया कि हजार साल पुराना अंधेरा गया। वह यह नहीं कह सकता है कि मैं हजार साल पुराना हूं। वह यह भी नहीं कह सकता कि हजार सालों से मैं बहुत सघन, 'कंडेंस्ड' हो गया हूं, इसलिए दीए की इतनी छोटी-सी ज्योति मुझे नहीं तोड़ सकती।

हजार साल पुराना अंधेरा और एक रात का पुराना अंधेरा एक ही 'डेंसिटी' के होते हैं या कहना चाहिए कि 'नो डेंसिटी' के होते हैं, उनमें कोई सघनता नहीं होती। अंधेरे की पर्तें नहीं होतीं, क्योंकि अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं होता। बस इधर आपने जलायी तीली, अंधेरा गया—अभी और यहीं!

हां, अगर कोई अंधेरे को पोटलियों में बांधकर फेंकना चाहे तो फिर मोरलिस्ट का काम कर रहा है, नैतिकवादी का। वह कहता है जितना अंधेरा है, बांधो पोटली में,

बाहर फेंककर आओ। फेंकते रहो टोकरी बाहर और भीतर अंधेरा अपनी जगह रहेगा। आप चुक जाओगे, अंधेरा नहीं चुकेगा।

ध्यान रहे, पाप को पुण्य से नहीं काटा जा सकता। क्योंकि पुण्य भी सूक्ष्म पाप के बिना नहीं हो सकता। पाप को तो सिर्फ ज्ञान से काटा जा सकता है, क्योंकि ज्ञान बिना पाप के हो सकता है।

ज्ञान कोई कृत्य नहीं है कि जिसमें पाप करना पड़े, ज्ञान अनुभव है। कर्म बाहर है, ज्ञान भीतर है। ज्ञान तो ज्योति के जलने जैसा है—जला कि सब अंधेरा गया। फिर तो ऐसा भी पता नहीं चलता कि मैंने कभी पाप किए थे; क्योंकि जब 'मैं' ही चला जाए तो सब खाते-बही भी उसी के साथ चले जाते हैं, फिर आदमी अपने अतीत से ऐसे ही मुक्त हो जाता है जैसे सुबह सपने से मुक्त हो जाती है।

कभी आपने ऐसा सवाल नहीं उठाया कि जब सुबह हम उठते हैं, रातभर का सपना देखकर और जरा-सा किसी ने हिलाकर उठा दिया, तो इतने-से हिलाने से रातभर का सपना कैसे टूट सकता है? जरा-सा किसी ने हिलाया, पलक खुली, सपना गया! फिर आप यह नहीं कहते कि रात-भर इतना सपना देखा, अब सपने के विरोध में इतना ही यथार्थ देखूंगा तब सपना मिटेगा। बस सपना टूट जाता है! पाप सपने की भांति है।

ज्ञान की जो सर्वोच्च घोषणा है वह यह है कि पाप स्वप्न की भांति है, पुण्य भी स्वप्न की भांति है। और सपने सपने से नहीं काटे जाते। सपने सपने से काटेंगे तो भी सपना देखना जारी रखना पड़ेगा। सपने सपने से नहीं कटते क्योंकि सपनों को सपने से काटने में सपने बढ़ते हैं। और सपने यथार्थ से भी नहीं काटे जा सकते। क्योंकि झूठ है, वह सच से काटा नहीं जा सकता। जो असत्य है वह सत्य से काटा नहीं जा सकता। वह इतना भी तो नहीं है कि काटा जा सके। वह सत्य की मौजूदगी पर नहीं पाया जाता है, काटने को भी नहीं पाया जाता है।

इसलिए कृष्ण भी कहते हैं कि कितना ही बड़ा पापी हो तू, सबसे बड़ा पापी हो तू, तो भी मैं कहता हूं, अर्जुन, कि ज्ञान की एक किरण तेरे सारे पापों को सपनों की भांति बहा ले जाएगी। सुबह जैसे कोई जाग जाता है वैसे ही रात समाप्त, सपने समाप्त, सब समाप्त! जागे हुए आदमी को सपनों से कुछ लेना-देना नहीं रह जाता।

इसलिए जब पहली बार भारत के ग्रंथ पश्चिम में अनुवादित हुए तो उन्होंने कहा, यह ग्रंथ तो 'इम्मारल' मालूम होता है, अनैतिक मालूम होता है। खुद शोपेनहार को चिंता हुई—मनीषी था, चिंतक था गहरा, उसको खुद चिंता हुई कि ये किस तरह की बातें हैं। ये कहते हैं, एक क्षण में कट जाएंगे पाप।

क्रिश्चियनिटी कभी भी नहीं समझ पायी इस बात को, ईसाइयत कभी नहीं समझ पायी इस बात को कि एक क्षण में पाप कैसे तिरोहित होंगे? क्योंकि ईसाइयत ने पाप को बहुत भारी मूल्य दे दिया, बहुत गंभीरता से ले लिया। सपने की तरह नहीं, असलियत की तरह ले लिया। ईसाइयत के ऊपर पाप का भार बहुत गहरा है, 'बर्डन' बहुत गहरा है। 'ओरिजिनल सिन', एक-एक आदमी का पाप तो है ही, पर उससे

पहले आदमी ने जो पाप किया था वह भी सब आदमियों की छाती पर है। उसको काटना बहुत मुश्किल है।

इसलिए क्रिश्चियनिटी 'गिल्ट-रिडन' हो गयी, अपराध का भाव भारी हो गया। और पाप का कोई छुटकारा दिखायी नहीं पड़ता। कितना ही पुण्य करो उससे छुटकारा नहीं दिखायी पड़ता। इसलिए ईसाइयत गहरे में जाकर रुग्ण हो गयी। जीसस को नहीं था यह खयाल, लेकिन ईसाइयत जीसस को नहीं समझ पायी, जैसा कि सदा होता है।

हिंदू कृष्ण को नहीं समझ पाए, जैन महावीर को नहीं समझ पाए, न समझने वाले। समझने का जब दावा करते हैं तो उपद्रव शुरू हो जाता है। जीसस ने कहा—'सीक यी फर्स्ट द किंगडम आफ गाड एंड आल एल्स शैल बी एडेड अन टू यू'। जीसस ने कहा, सिर्फ प्रभु के राज्य को खोज लो और शेष सब तुम्हें मिल जाएगा। वही जो कृष्ण कह रहे हैं कि सिर्फ प्रकाश की किरण को खोज लो और शेष सब, जो तुम छोड़ना चाहते हो छूट जाएगा, जो तुम पाना चाहते हो मिल जाएगा।

भारतीय चिंतन 'इम्मारल' नहीं है, 'ए मारल' है—अनैतिक नहीं है, अतिनैतिक है, 'सुपर मारल' है—नीति के पार जाता है, पुण्य-पाप के पार चला जाता है!

४. धर्म संस्थापनार्थाम

धर्म नष्ट कभी नहीं होता, कुछ भी नष्ट नहीं होता। धर्म तो नष्ट होगा ही नहीं, लेकिन लुप्त होता है। लुप्त होने के अर्थों में नष्ट होता है। इसलिए उसकी पुनर्स्थापना की निरंतर जरूरत पड़ जाती है। उसकी पुनर्प्रतिष्ठा की निरंतर जरूरत पड़ जाती है। जैसे धर्म कभी अस्तित्वहीन नहीं होता वैसे ही अधर्म कभी अस्तित्ववान नहीं होता। लेकिन बार-बार फिर भी उस अस्तित्वहीन अधर्म को हटाने की जरूरत पड़ जाती है। इसे थोड़ा समझें—क्योंकि बड़ी उल्टी बात मालूम पड़ेगी। जो धर्म कभी नष्ट नहीं होता उसकी संस्थापना की क्या जरूरत है? और जो अधर्म कभी होता नहीं, उसके मिटाने की भी क्या जरूरत है। लेकिन ऐसा है!

अंधेरा है—अंधेरा है नहीं, रोज मिटाना पड़ता है, और है बिल्कुल नहीं! अंधेरे का कोई अस्तित्व नहीं है। अंधेरा 'एक्जिस्टेंशियल' नहीं है, अंधेरा कोई चीज नहीं है—फिर भी है। यह मजा है, यह पैराडाक्स है जिंदगी का कि अंधेरा है नहीं, फिर भी है! काफी है, घना होता है, डरा देता है, प्राण कंपा देता है ओर है नहीं! अंधेरा सिर्फ प्रकाश की अनुपस्थिति है—सिर्फ 'एब्सेंस' है।

जैसे कमरे में आप थे और बाहर चले गए तो हम कहते हैं, अब आप कमरे में नहीं हैं। अंधेरा इसी तरह है। अंधेरे का मतलब इतना ही है कि प्रकाश नहीं है। इसलिए अंधेरे को तलवार से काट नहीं सकते, अंधेरे को गठरी में बांधकर फेंक नहीं सकते। दुश्मन के घर में जाकर अंधेरा डाल नहीं सकते। अंधेरा घर के बाहर निकालना हो तो धक्का देकर निकाल नहीं सकते। 'सब्सटेंशियल' नहीं है, अंधेरे में कोई 'सब्सटेंस' नहीं है। कंटेंट नहीं है, अंधेरे में कोई वस्तु नहीं है। अंधेरा अवस्तु है—'नो ि

थग, नथिंग'! अंधेरे में कुछ है नहीं, लेकिन फिर भी है। इतना तो है कि डरा दे, इ तना तो है कि कंपा दे! इतना तो है कि गड्ढे में गिरा दे, इतना तो है, हाथ-पैर टूट जाएं!

यह बड़ी मुश्किल की बात है कि जो नहीं है उसके होने से आदमी गड्ढे में गिर जात ा है। यह कहना नहीं चाहिए क्योंकि एब्सर्ड है। जो नहीं है उसके होने से आदमी ग ड्ढे में गिर जाता है। जो नहीं है उसके होने से हाथ-पैर टूट जाते हैं, जो नहीं है उस के होने से चोर चोरी कर ले जाते हैं, जो नहीं है उसके होने से हत्यारा हत्या कर लेता है। नहीं तो है बिल्कुल, वैज्ञानिक भी कहते हैं, नहीं है! उसका कोई अस्तित्व नहीं है।

अस्तित्व है प्रकाश का। जिसका अस्तित्व हो उसको रोज जाना पड़ रहा है। रोज सां झ दीया जलाओ, न जलाओ तो अंधेरा खड़ा है। तो कृष्ण कहते हैं, संस्थापनार्थ—धर्म की संस्थापना के लिए, दीए को जलाने के लिए, अधर्म के अंधेरे को हटाने के लिए —अधर्म जो नहीं है, धर्म जो सदा है . . .!

सूरज स्रोत है प्रकाश का। अंधेरे का स्रोत पता है, कहां है? कहीं भी नहीं है। सूरज से आ जाती है रोशनी। अंधेरा कहां से आता है? —'फ्रोम नो ह्वेयर', कोई 'सोर्स' नहीं है। कभी आपने पूछा, अंधेरा कहां से आता है? कौन डाल देता है इस पृथ्वी प र अंधेरे की चादर? कौन आपके घर को अंधेरे से भर देता है। स्रोत नहीं है उसका , क्योंकि है ही नहीं अंधेरा।

जब सुबह सूरज आ जाता है तो अंधेरा कहां चला जाता है? कहीं सिकुड़कर छिप जाता है? कहीं नहीं सिकुड़ता, कहीं नहीं जाता। है ही नहीं, कभी था नहीं! अंधेरा कभी नहीं है, फिर भी रोज उतर आता है। प्रकाश सदा है, फिर भी रोज सांझ जल ाना पड़ता है और खोजना पड़ता है।

ऐसे ही धर्म और अधर्म है। अंधेरे की भांति है अधर्म, प्रकाश की भांति है धर्म। प्रति दिन खोजना पड़ता है। युग-युग में, कृष्ण कहते हैं, लौटना पड़ता है। मूल स्रोत से धर्म को फिर वापस पृथ्वी पर लौटना पड़ता है। सूर्य से फिर प्रकाश को वापस लेना पड़ता है। यद्यपि जब प्रकाश नहीं रह जाता सूर्य का तो हम मिट्टी के दीये जला लेते हैं। कैरोसिन की कंदील जला लेते हैं। उससे काम चलाते हैं, लेकिन काम नहीं चल ता है। कहां सूरज, कहां कंदील? बस काम चलता है!

तो जब कृष्ण जैसे व्यक्तित्व नहीं होते पृथ्वी पर तब छोटे-मोटे दीये, कंदीलें कैरोसि न की, जिनसे धुआं काफी निकलता है, रोशनी कम ही निकलती है, उनसे भी काम चलाना पड़ता है। तथाकथित साधु-संतों की भीड़ ऐसी ही है—कैरोसिन आइल, मिट्ट ी का तेल—मगर रात में बड़ी कृपा उनकी। थोड़ी-सी तथा धीमी, दो चार दस फीट पर रोशनी पड़ती रहती है उनकी। लेकिन बार-बार अंधेरा सघन हो जाता है और बार-बार करुणावान चेतनाओं को लौट आना पड़ता है, जो आकर फिर सूरज से भ र देती हैं।

कई बार ऐसा भी होता है कि सूरज जैसी चेतनाओं को आमने-सामने नहीं देखा जा सकता। आपने कभी खयाल किया कि सूरज को कभी आप आमने-सामने नहीं देखते। दीए को मजे से देखते हैं। इसलिए साधु-संतों से सत्संग चलता है। कृष्ण जैसे लोगों के आमने-सामने मुश्किल हो जाती है। 'एन्काउंटर' हो जाता है, तो झंझट हो जाती है। कई दफा तो आंखें चौंधिया जाती हैं। सूरज की तरफ देखें तो रोशनी कम मिलेगी, आंखें बंद हो जाएंगी, अंधेरा हो जाएगा।

सूरज को आदमी तभी देखता है जब ग्रहण लगता है, अन्यथा नहीं देखता कोई। यह बड़े मजे की बात है, ग्रहण लगे सूरज को लोग देखते हैं। पागल हो गए हैं? सूरज बिना ग्रहण के रोज अपनी पूरी ताकत से मौजूद है, कोई नहीं देखता। क्या बात है ? ग्रहण लगने से थोड़ा भरोसा आता है कि हम भी देख सकते हैं, थोड़ा सूरज कम है, अधूरा है। शायद अब जोर से हमला नहीं करेगा।

इसलिए कृष्ण जैसे व्यक्तियों को कभी भी समझा नहीं जाता; हमेशा 'मिस-अंडरस्टैंड' किया जाता है। और जिनको आप समझ लेते हैं—समझ लेना, वे कैरोसिन की कंदील हैं। अपने घर में जलायी-बुझायी, अपने हाथ से बत्ती नीची-ऊंची की। जब जैसी चाही, वैसी की। जिनको आप समझ पाते हैं, समझ लेना कि घर के मिट्टी के दीए हैं। जिनको आप कभी नहीं समझ पाते, आंखें चौंधिया जाती हैं, हजार सवाल उठ जाते हैं, मुश्किल पड़ जाती है, तो समझना कि सूरज उतरा है।

इसलिए कृष्ण को हम अभी तक नहीं समझ पाए, न क्राइस्ट को समझ पाए, न बुद्ध को, न महावीर को, न मुहम्मद को। इनमें से हम किसी को नहीं समझ पाते। इस तरह के व्यक्ति जब भी पृथ्वी पर आते हैं, हमारी आंखें चौंधिया जाती हैं, जब वह हट जाते हैं—जब आंख के सामने नहीं रहते तब हम अपने-अपने मिट्टी के दीए जलाकर समझने की कोशिश करते हैं।

पुनः संस्थापना के लिए नष्ट नहीं होता धर्म कभी, खो जरूर जाता है। अधर्म कभी स्थापित नहीं होता, छा जरूर जाता है। ऐसा समझ में आ सके तो ठीक है!

□□□

ब्रह्म के दो रूप

अभी विगत पंद्रह वर्षों की गहन खोज ने विज्ञान को एक नयी धारणा दी है—'एक्सपैंडिंग युनिवर्स' की, फैलते हुए विश्व की। सदा से ऐसा समझा जाता था कि विश्व जैसा है, वैसा है। नया विज्ञान कहता है, विश्व उतना ही नहीं है जितना है—रोज फैल रहा है, जैसे कि कोई गुब्बारे में हवा भरता चला जाए और गुब्बारा बड़ा होता चला जाए! यह जो विस्तार है जगत् का, यह उतना नहीं है, जितना कल था। यह निरंतर फैल रहा है।

ये जो तारे रात हमें दिखायी पड़ते हैं, ये एक-दूसरे से प्रतिपल दूर जा रहे हैं—'एक्स
पैंडिंग युनिवर्स', फैलता हुआ विश्व! इसके दो अर्थ हुए : कि एक क्षण ऐसा भी रहा
होगा, जब यह विश्व इतना सिकुड़ा रहा होगा कि शून्य केंद्र पर रहा होगा—आप प
ीछे लौटें! समय में जितने पीछे लौटेंगे, विश्व छोटा होता जाएगा, सिकुड़ता जाएगा।
एक क्षण ऐसा जरूर रहा होगा, जब यह सारा विश्व बिंदु पर सिकुड़ा रहा होगा—ि
फर फैलता चला गया, आज भी फैल रहा है . . . परिधि बड़ी होती चली जाती है
रोज! वैज्ञानिक कहते हैं, हम कुछ कह नहीं सकते कि यह कब तक बड़ी हो सकत
ी है! यह अंतहीन विस्तार है। यह बड़ी होती ही चली जाएगी।

एक दूसरी बात भी खयाल में ले लेनी जरूरी है कि विज्ञान ने तो यह शब्द अभी उ
पयोग करना शुरू किया है, 'एक्सपैंडिंग युनिवर्स'—लेकिन उपनिषद् जिसे ब्रह्म कहते
हैं, उस ब्रह्म का मतलब होता है, 'दी एक्सपैंडिंग '। ब्रह्म का मतलब परमात्मा नहीं
होता। ब्रह्म का अर्थ होता है, फैलता हुआ। ब्रह्म का अर्थ होता है, जो फैलता ही
चला जाता है। ब्रह्म और विस्तार एक ही मूल धातु से निर्मित होते हैं। एक ही शब
्द के रूप हैं। ब्रह्म का मतलब है, जो सदा विस्तीर्ण होता चला जाता है। विस्तीर्ण है
—ऐसा नहीं, स्थिति में विस्तीर्ण है—ऐसा नहीं, प्रक्रिया में विस्तीर्ण है! जो होता चला
जाता है—'कांस्टेंटली एक्सपैंडिंग' . . . निरंतर विस्तीर्ण होता हुआ जो है।

अब ब्रह्म के दो अर्थ हुए —एक तो ब्रह्म का वह अर्थ हुआ जिसको असंभूति कहता
है उपनिषद् का ऋषि। असंभूति ब्रह्म का अर्थ है : शून्य ब्रह्म। जब वह नहीं फैला था
उस क्षण की हम कल्पना करें। फैलाव का बिल्कुल प्राथमिक क्षण, जब बीज टूटा न
हीं था। बीज के टूटने के बाद तो अंकुर फैलता ही चला जाएगा—वृक्ष होगा। जरा छ
ोटे-से बीज से इतना बड़ा वृक्ष होगा कि हजार बैलगाड़ियां उसके नीचे विश्राम कर
सकेंगी। और फिर उस वृक्ष में अनंत बीज लगेंगे। और अनंत बीज में से एक-एक ब
ीज फिर इतना ही बड़ा हो जाएगा। एक छोटा-सा बीज भी फैलकर अनंत बीज होत
ा चला जा रहा है।

असंभूत ब्रह्म का अर्थ है : बीज रूप ब्रह्म, बिंदु रूप ब्रह्म। कल्पना ही कर सकते हैं
हम, क्योंकि बिंदु की कल्पना ही होती है। परिभाषा यह है बिंदु की, जिसमें लंबाई
और चौड़ाई न हो। ऐसे बिंदु की सिर्फ व्याख्या हो सकती है, बिंदु को खींचा नहीं ज
ा सकता। क्योंकि बिना लंबाई-चौड़ाई के कागज पर बिंदु बनेगा नहीं। इसलिए जो ि
बदु दिखायी नहीं पड़ता वह सिर्फ परिभाषा में है।

असंभूत ब्रह्म का अर्थ है—युक्लीड जिसे बिंदु कहता है, वही असंभूत है—जिसमें अभी
होना शुरू नहीं हुआ, जिसमें अभी भूत प्रकट नहीं हुआ— असंभूत? अभी 'एक्जिस्टेंस
' आया नहीं, 'पोटेंशियल' है! अभी छिपा है, अभी प्रकट होगा, होने को है—लेकिन
अभी बिंदु है।

इस असंभूत ब्रह्म की एक स्थिति हुई, लेकिन इसे हम नहीं जानते। हम तो दूसरे ब्र
ह्म को जानते हैं, संभूत ब्रह्म—जो हो गया! हम तो वृक्षरूप ब्रह्म को जानते हैं—जो ह
ो गया, और होता ही चला जा रहा है . . .फैलता ही चला जा रहा है! हमारा यह

विश्व रोज बड़ा हो रहा है। रोज कहना बहुत कम है, यह प्रतिपल बड़ा हो रहा है। सूर्य की किरणों की जो गति है उसी गति से तारे एक-दूसरे से दूर हट रहे हैं—केंद्र से दूर हट रहे हैं। और सूर्य की किरणों की गति है प्रति सेकेंड एक लाख छियासी हजार मील। इतनी गति से परिधि केंद्र से दूर जा रही है। अनंतकाल से इस तरह दूर जा रही है।

वैज्ञानिक भी तय नहीं कर पाते कि समय के उस क्षण को हम कैसे तय करें, जब यह शुरू हुई होगी यात्रा! जब पहला कदम उठाया होगा बीज ने वृक्ष होने का! और हम यह भी नहीं कह सकते कि क्या होगी अंतिम यात्रा? विज्ञान बड़ी कठिनाई में पड़ गया है। क्योंकि 'एक्सपैंडिंग युनिवर्स' कंसीवेबल नहीं है कि कहां जाकर रुकेगा और क्यों रुकेगा? रुकने का कोई कारण क्या है? रुकने के लिए जरूरत है कि कोई और चीज बाधा बन जाए!

जैसे एक पत्थर को मैं फेंकता हूं हाथ से और इस पत्थर को जब तक कोई बाधा न मिले तो यह कहीं भी नहीं रुकेगा। पर बाधा मिल जाती है। वह किसी वृक्ष से टकरा जाता है। वृक्ष से न टकराए तो जमीन की कशिश उसे खींच रही है पूरे वक्त। लेकिन यह जो संभूत ब्रह्म है, यह कहां रुकेगा? इसको कोई बाधा आएगी कहां से? क्योंकि सभी कुछ इसके भीतर है, इसके बाहर कुछ भी नहीं है। अगर बाहर कुछ है तो उसका मतलब है कि वह भी इसका हिस्सा हो गया, संभूत ब्रह्म का हिस्सा हो गया। इसीलिए बाधा तो कहीं आएगी नहीं, यह रुकेगा कहां? यह रुकेगा कैसे? यह बढ़ता ही चला जाएगा।

इसलिए आइंसटीन और प्लांक जिन्होंने इस पर काफी काम किया, वे बड़ी उलझन में पड़ गए। उनको आखिर, इसे रहस्य की तरह छोड़ देना पड़ा। इस फैलाव के रुकने को कोई कारण दिखायी नहीं पड़ता, और यह इनकंसीवेबल मालूम पड़ता है कि फैलता ही चला जाए। अगर यही इसी तरह फैलता चला गया तो एक दिन तारे इतने दूर हो जाएंगे कि एक तारे से दूसरा तारा दिखायी नहीं पड़ेगा। लेकिन उपनिषद् कुछ और ढंग से सोचते हैं और उस ढंग को समझ लेना चाहिए।

एक दिन, आज नहीं कल, वैज्ञानिक को उस ढंग से सोचना शुरू करना पड़ेगा। लेकिन अब तक पश्चिम के विज्ञान की वह धारणा नहीं है—न होने का कारण है। न होने का कारण है कि पश्चिम का पूरा विज्ञान ग्रीक फिलॉसफी से, यूनानी दर्शन से विकसित हुआ। और यूनानी दर्शन की जो मूल मान्यताएं हैं वह उन पर खड़ा है।

यूनानी दर्शन की एक मूल मान्यता यह है कि समय सदा सीधी रेखा में गति करता है। इससे पश्चिम का विज्ञान बड़ी मुश्किल में पड़ा है। भारतीय दर्शन की धारणा बड़ी भिन्न है, भारतीय दर्शन की धारणा है कि सभी गति वर्तुलाकार है, 'सर्कुलर' है। कोई गति सीधी रेखा में नहीं होती।

इसको समझें। जैसे एक बच्चा पैदा हुआ, तो साधारणतः अगर हम यूनानी चिंतक से पूछें तो उसके हिसाब से बच्चे और बूढ़े के बीच में सीधी रेखा खींची जा सकती है—भारतीय दार्शनिक कहेगा, नहीं! बच्चे और बूढ़े के बीच एक वर्तुल बनाया जा सक

ता है, क्योंकि बूढ़ा वहीं पहुंच जाता है मरते वक्त, जहां से बच्चे ने शुरू किया है—सर्किल है। इसलिए बूढ़े अगर बच्चों जैसा व्यवहार करने लगते हैं तो बहुत हैरानी की बात नहीं है। सीधी रेखा नहीं है। बचपन और बुढ़ापे के बीच वर्तुल है, एक गोल घेरा है। जवानी वर्तुल का बीच का हिस्सा है, उठाव है। फिर जवानी के बाद लौटनी शुरू हो गयी यात्रा।

ऐसा समझें, जैसे कि ऋतुएं घूमती हैं। भारतीय धारणा समय की ऋतुओं के घूमने जैसी है, मंडलाकार। वर्षा आती है, फिर ग्रीष्म आता है, फिर सर्दी आती है, फिर वर्तुल है। सीधी नहीं है, एक वर्तुल है। सुबह होती है, सांझ होती है, फिर सुबह आती है, फिर सांझ होती है—एक वर्तुल है। पूर्वीय मनीषि की धारणा ऐसी है कि समस्त गतियां वर्तुलाकार हैं। पृथ्वी भी गोल घूमती है, ऋतुएं भी गोल घूमती हैं, सूर्य भी गोल घूमता है, चांद-तारे भी गोल घूमते हैं। गति मात्र वर्तुल है। कोई गति सीधी नहीं है। जीवन भी गोल घूमता है।

यह जो 'एक्सपैंडिंग युनिवर्स' है वैसे ही है जैसे बच्चा जवान हो रहा है। लेकिन अगर बच्चा जवान ही होता जाए तो बड़ी मुश्किल पड़ेगी। कहां होगा रुकाव? लेकिन जब तक बच्चा जवान हो रहा है, थोड़ी ही देर में वर्तुल डूबना शुरू हो जाएगा और जवान बूढ़ा होने लगेगा। अगर जन्म फैलता ही चला जाए और मृत्यु के बिंदु पर वापस लौट न आए तो कहां रुकेगा?

इसलिए भारत का जो चिंतन है वह कहता है कि यह जो फैलता हुआ ब्रह्म है, यह फैलकर बच्चा रहेगा, जवान होगा, बूढ़ा होगा, वापस असंभूत ब्रह्म में गिर जाएगा। वापस शून्य हो जाएगा। जहां से आया है वहीं वापस लौट जाएगा। बड़ा लंबा वर्तुल होगा इसका।

हमारे जीवन का वर्तुल सत्तर साल का है। लेकिन छोटे वर्तुल के जीवन भी हैं। एक पतंगा सुबह पैदा होता है, सांझ वर्तुल पूरा हो जाता है। इससे भी छोटे वर्तुल हैं। क्षणभर जीने वाले प्राणी भी हैं। क्षण के शुरू में पैदा होते हैं, क्षण के बाद में डूब जाते हैं। और आप यह मत सोचना कि जो क्षण भर जीता है वह सत्तर साल वाले से कम जीता है। क्योंकि क्षणभर के वर्तुल में, सत्तर साल में जो आप पूरा करते हैं वह पूरा हो जाता है। बचपन आता है, जवानी आती है, प्रेम होता है, बच्चे पैदा होते हैं, बुढ़ापा आ जाता है—मौत हो जाती है। क्षणभर के वर्तुल में भी सत्तर साल पूरे हो जाते हैं। सत्तर साल कोई बड़ा वर्तुल नहीं है।

पृथ्वी हमारी, वैज्ञानिक कहते हैं कि कोई चार अरब वर्ष पहले पैदा हुई। हमारे पास कोई पता लगाने का उपाय नहीं है कि पृथ्वी अब किस अवस्था में होगी, लेकिन कई हिसाब से लगता है कि बूढ़ी होती है। भोजन कम पड़ता जाता है, आदमी ज्यादा होते चले जाते हैं, मौत निकट मालूम होती है, सब चीजें चुकती जाती हैं। कोयला चुकता जाता है, पेट्रोल चुकता जाता है, भोजन चुकता जाता है, जमीन के सब रासायनिक द्रव्य चुकते जाते हैं।

जमीन बूढ़ी होती है, जल्दी ही मरेगी। जल्दी का मतलब? हमारे हिसाब से नहीं, क
योंकि जिसको चार अरब वर्ष लगे हों बूढ़ा होने में, उसको मरने में भी अरब वर्ष ल
ग जाएं, आश्चर्य नहीं! लेकिन हमें जमीन का पता नहीं चलता।

आपके शरीर में, एक आदमी के शरीर में अंदाजन सात करोड़ जीवाणु हैं। उन जीव
ाणुओं को कोई पता नहीं कि आप भी हैं। वे पैदा होंगे, जवान होंगे, बूढ़े होंगे, बच्चे
छोड़ जाएंगे, मर जाएंगे, उनकी कब्र बन जाएगी आपके भीतर, आपको उनका पत
ा नहीं चलेगा। उनको तो आपका बिल्कुल पता नहीं। आप सत्तर साल जिएंगे, इस
बीच आपके भीतर करोड़ों जीवन पैदा होंगे और विदा हो जाएंगे।

ठीक ऐसे ही पृथ्वी को हमारा कोई पता नहीं है, हमें पृथ्वी के जीवन का कोई पता
नहीं है। अरबों वर्ष का उसका जीवन वर्तुल है। पृथ्वी का चार-पांच अरब वर्ष का ज
ीवन वर्तुल है—पूरे ब्रह्म का, ब्रह्मांड का, संभूत ब्रह्म का, कितने वर्षों का है, कहना
कठिन है! लेकिन एक बात तय है कि इस जगत् में नियम का कोई भी उल्लंघन न
हीं है। देर-अबेर नियम पूरा होता है।

इसलिए उपनिषद् के ऋषि कहते हैं, दो हिस्से कर लें ब्रह्म के—संभूत, जो है; असंभू
त, जिससे हुआ है और जिसमें लीन हो जाएगा—बिंदु ब्रह्म और विस्तीर्ण ब्रह्म! विस्त
ीर्ण ब्रह्म को जान लेता है, वह मृत्यु को पार करता है। बिंदु को जान लेता है, वह
अमृत को उपलब्ध होता है। क्योंकि विस्तीर्ण ब्रह्म जो है वह मृत्यु का घेरा है—मृत्यु
घटेगी ही। वर्तुल को पूरा होना पड़ेगा। जन्म हुआ है, मृत्यु होगी।

क्यों, ऋषि कहता है कि वह मृत्यु को जीत लेता है? मृत्यु को जीतने का क्या अर्थ
है? क्या ऋषि मरते नहीं? सब ऋषि मर जाते हैं, सब ज्ञानी मर जाते हैं! निश्चि
त ही मृत्यु को जीतने का अर्थ, 'न मरना' नहीं है। मृत्यु को जीतने का अर्थ है :
जो व्यक्ति यह जान लेता है, गहरे में अनुभव कर लेता है कि जन्म के साथ मृत्यु
जुड़ी ही है, अनिवार्य है; जो यह जान लेता है कि जन्म पहली शुरुआत है वर्तुल की
, मृत्यु अंत है; जो इस बात को इतनी प्रगाढ़ता से जान लेता है कि मृत्यु अनिवार्य
ता है, नियति है—वह मृत्यु के भय से मुक्त हो जाता है!

अनिवार्य से क्या भय है? जिससे निवारण नहीं हो सकता है उसका भय कैसा? जो
होगा ही, जो होना ही है, उसकी चिंता भी क्या? चिंता तो उसकी होती है जिसमें
परिवर्तन हो सके। इसलिए मजे की बात है कि पश्चिम में जितनी मृत्यु की चिंता है
उतनी पूरब में कभी नहीं थी। जबकि पश्चिम को ऐसा लगता है कि मृत्यु को जीत
ने के उपाय उसके पास हैं, और पूरब को कभी नहीं लगा कि ऐसे जीतने के कोई
उपाय हैं।

इसके कारण हैं। अगर ऐसा लगे कि मृत्यु को बदला जा सकता है तो चिंता पैदा हो
गी। जो भी चीज बदली जा सकती है, चिंता आएगी। जो नहीं बदली जा सकती, त
ो चिंता का कोई उपाय नहीं, चिंता करके करिएगा क्या? चिंता किसलिए! अगर मृ
त्यु सुनिश्चित है, अगर जन्म के साथ ही तय हो गयी तो चिंता का क्या कारण है?

युद्ध के मैदान पर सिपाही जाते हैं तो जब तक युद्ध के मैदान पर नहीं पहुंचते तब तक भयभीत, पीड़ित और चिंतित होते हैं। जैसे ही युद्ध के मैदान पर पहुंचते हैं, दिन दो दिन के भीतर सब चिंता मिट जाती है। कायर से कायर सैनिक भी युद्ध के मैदान में पहुंचकर बहादुर हो जाता है। क्योंकि बम गिरने लगे सिर के ऊपर, अब कोई उपाय नहीं रहा।

पाणिनी के संबंध में छोटी-सी मीठी कथा है। अपने विद्यार्थियों को बिठाकर पाणिनी व्याकरण पढ़ा रहा है, जंगल है, एक सिंह दहाड़ता हुआ आ जाता है। पाणिनी कहता है, सुनो सिंह की दहाड़ और इस दहाड़ का क्या रूप होगा, वह समझो! बच्चे कंप रहे हैं और पाणिनी सिंह की दहाड़ की क्या व्याकरण व्यवस्था होगी, वह समझा रहा है। कहते हैं, पाणिनी के ऊपर सिंह ने हमला कर दिया तब भी वह व्याकरण समझा रहा है। पाणिनी को सिंह खा गया, तब भी वह . . .'सिंह मनुष्य को खाता है,' तो इसका भाषागत रूप क्या है? इसकी व्याकरण क्या है?. . . वह समझा रहा है! नहीं, पाणिनी भी भागकर बचाव तो कर ही सकता था, ऐसा हमें लगता है। कुछ उपाय किया जा सकता था।

लेकिन पाणिनी जैसे लोगों की समझ यह है कि आज मरे कि कल, मरना जब सुनिश्चित है तो आज और कल से क्या फर्क पड़ता है। समय के व्यवधान से कोई फर्क पड़ता है? जब मृत्यु होनी ही है तो आज होगी कि कल होगी, परसों होगी, उसकी स्वीकृति है! इस स्वीकृति में विजय है। 'दिस एक्सेप्टिबिलिटी'--यह स्वीकार, कि हमने जन्म के साथ मृत्यु को स्वीकार कर लिया है; फैलाव के साथ ही सिकुड़ने को स्वीकार कर लिया है--फैले हैं, उसी दिन जाना कि सिकुड़ जाएंगे; जन्मे हैं, उसी दिन जाना कि विदा हो जाएंगे; प्रकट हुए हैं, उसी दिन जाना कि अप्रकट हो जाएंगे--वर्तुल पूरा होकर रहेगा!

ऐसी स्वीकृति मृत्यु से मुक्ति है। फिर मरना कैसा? मरनेवाला तो पार हो गया। उसे तो कोई जन्म का मोह न रहा और मृत्यु का कोई भय न रहा। ध्यान रहे, हमारे जीवन में मृत्यु और जीवन दो छोर हैं जो जीवन के बाहर हैं। जन्म हमारा जीवन के बाहर है क्योंकि जन्म के पहले हम नहीं थे।

मृत्यु हमारे जीवन के बाहर है, क्योंकि इस मृत्यु के बाद हम नहीं होंगे। वह बाउंड्री लाइन है, सीमांत है। लेकिन जो जानता है उसके लिए यह सीमांत नहीं है। मृत्यु और जन्म जीवन के बीच में घटी दो घटनाएं हैं। क्योंकि वह कहता है कि जन्म कि सका? मैं पहला था, तभी तो मैं जन्म सका, नहीं तो मैं जन्मता कैसे? मैं अप्रकट था, तभी तो प्रकट हो सका, अन्यथा मैं प्रकट कैसे होता? बीज में अगर वृक्ष नहीं छिपा था तो कोई उपाय नहीं था कि वह पैदा हो जाए!

और मैं मर सकूंगा तभी, क्योंकि मैं हूं, नहीं तो मृत्यु किसकी होगी? जन्म के पहले मैं था तो जन्म हो सका, मृत्यु के बाद भी मैं रहूंगा तो ही मृत्यु हो सकती है, नहीं तो मृत्यु होगी किसकी? जो जानता है, उसके लिए मृत्यु अंत नहीं है। जीवन के बीच घटी एक घटना है। जन्म भी जीवन के बीच घटी एक घटना है, प्रारंभ नहीं है

। जीवन, वर्तुल के बाहर है लेकिन वह जीवन असंभूत है—वह अप्रकट है, अन-अभिव्यक्त है, 'अनएक्सप्रेस्ड' है, 'अनमैनीफेस्ड' है। वह असंभूत जीवन संभूत बनता है जन्म से, फिर असंभूत बन जाता है मृत्यु से। जो जान लेता है संभूत जगत् की इस व्यवस्था को, वह फिर व्यवस्था से पीड़ित नहीं होगा।

एक मकान के भीतर आप हैं, आप जानते हैं कि यह दीवार है, और यह दरवाजा है। तो फिर आप दीवार से सिर नहीं टकराते। फिर आप दीवार से निकलने की कोशिश नहीं करते। निकलना होता है, दरवाजे से निकल जाते हैं। लेकिन फिर इसके लिए बैठकर रोते नहीं कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है! लेकिन जिसे दरवाजे का पता नहीं है वह बेचारा दीवार से सिर टकराएगा और बहुत बार चिल्लाएगा कि दीवार दरवाजा क्यों नहीं है—दरवाजे का पता न हो तो! दरवाजे का पता हो तो—दीवार-दीवार है, दरवाजा-दरवाजा है! दीवार से निकलने की आप कोशिश नहीं करते, दरवाजे से निकलने की कोशिश करते हैं।

व्यवस्था को पूरा जो जान लेता है वह व्यवस्था से मुक्त हो जाता है। जो व्यवस्था को अधूरा जानता है वह संघर्ष में पड़ा रहता है। हम जानते हैं, जन्म है तो मृत्यु है। यह जानना इतना साफ है, इतना चरम है, इतना 'अल्टीमेट' है, इसमें फर्क का कोई उपाय नहीं। इसी का नाम नियति है—संभूत की नियति, संभूत के बीच भाग्य!

लेकिन भाग्य से हमने बड़े गलत अर्थ लिए। असल में हम गलत आदमी हैं इसलिए सब चीजों के गलत अर्थ लेते हैं। अर्थ सही और गलत हो जाते हैं, गलत और सही आदमियों के साथ। भाग्य का अर्थ अगर निराशा बन जाए, तो फिर आप समझे नहीं! हाथ पर हाथ रखकर बैठ जाए आदमी, भाग्य को समझकर, तो आप समझे नहीं!

भाग्य का अर्थ परम आशावान है। बड़ी मुश्किल मालूम पड़ेगी बात। भाग्य का मतलब ही यह है कि अब दुःख का कोई कारण ही न रहा। अब तो निराशा की कोई जगह ही न रही—मृत्यु है, और है! इसमें दुःख कहां है। इसमें पीड़ा कहां है। दुःख और पीड़ा वहीं थे, जब स्वीकार न था। तो निराशा कहां है?

बुद्ध कहते हैं कि जो बना है वह बिखरेगा, जो मिला है वह छूटेगा। मिलन के क्षण में जानना कि विदा मौजूद हो गयी है। परंतु हम उदास हो जाएंगे। प्रेमी से मिले, उसी क्षण खयाल आ गया कि विदा का क्षण उपस्थित होगा, अब थोड़ी देर में विदा होगी, बस हमारा मिलन भी नष्ट हो जाएगा। मिलन में जो थोड़ी बहुत सुख की भ्रांति पैदा होती है वह भी गयी। क्योंकि विदायी दिखायी पड़ने लगी।

जन्म हुआ, बैंड-बाजे बजे, उसी वक्त किसी ने कहा, मौत निश्चित हो गयी—मरेगा यह बच्चा! हम कहेंगे, ऐसे अपशकुन की बातें मत बोलो। इससे बड़ा मन●●˜●●उदास होता है। इससे चित्त को बड़ा धक्का लगता है। लेकिन बुद्ध जब कहते हैं, मिलन में विदा उपस्थित हो गयी तो वे मिलन के सुख को नहीं काट रहे हैं, केवल विदा के दुःख को काट रहे हैं।

इसमें फर्क समझ लेना। नासमझ मिलन के सुख को काट डालेगा, समझदार विदा के दुःख को काट डालेगा। क्योंकि जब मिलन में ही विदा उपस्थित है, तो विदा का दुःख कैसा? वह तो जिस दिन मिलन चाहा था, उसी दिन विदा भी चाह ली थी। जब जन्म में ही मौत उपस्थित है तो मृत्यु का दुःख कैसा? वह तो जिस दिन जन्म चाहा था उसी दिन मौत भी मिल गयी। नासमझ जन्म के सुख को काट देगा, समझदार मृत्यु के दुःख को काट देगा।

संभूत ब्रह्म को, विस्तीर्ण ब्रह्म को, प्रकट ब्रह्म को जानकर व्यक्ति मृत्यु के पार हो जाता है। मृत्यु के, पीड़ा के, संताप के, सबके पार हो जाता है। ध्यान रहे, दुःख, पीड़ा, संताप और चिंता सब मृत्यु की छायाएं हैं—'शेडो आफ डेथ'। जो व्यक्ति मृत्यु से मुक्त हो गया, उसके लिए न कोई दुःख है, न कोई चिंता है, न ही कोई पीड़ा है।

कभी आपने ठीक से खयाल नहीं किया होगा कि जब भी चिंतित होते हैं तो किसी न किसी कोने में मौत खड़ी होती है, उस वजह से चिंतित होते हैं। एक आदमी के घर में आग लग गयी, वह चिंतित होता है। एक आदमी का दिवाला निकल गया, वह चिंतित है। क्योंकि दिवाला निकलने से जीवन अब कष्ट में पड़ेगा और मौत आसान हो जाएगी। मकान जल जाने से अब जीवन असुरक्षित हो जाएगा और मौत सुगमता पाएगी। अंधेरे में अकेला खड़ा आदमी चिंतित होता है क्योंकि कुछ दिखायी नहीं पड़ता और मौत अगर आ जाए तो अभी दिखायी भी नहीं पड़ेगी। जहां-जहां आप चिंतित होते हो, फौरन पहचानना आस-पास, कहीं खड़ी हुई मौत को पाएंगे। मौत की छाया है चिंता। वहां—जहां दुःख और पीड़ा मन को पकड़ते हों वहां समझ लेना कि कहीं संभूत ब्रह्म की समझ में नासमझी हो रही है। अनिवार्य को आप निवार्य मान रहे हैं। बस वहीं से दुःख शुरू हो रहा है। जो होना ही है, उसकी आप आशा किए जा रहे हैं कि शायद न हो। वहीं से चिंता शुरू हो गयी। वहीं संताप और 'एंग्विश' पैदा होता है। नहीं, जो होना ही है, वही हो रहा है, वही होता है, अन्यथा और कोई उपाय नहीं है। तब इस स्वीकृति के साथ, इस तथाता के साथ, संभूत ब्रह्म की इस व्यवस्था की स्वीकृति के साथ, भीतर सब शांत हो जाता है। अशांति का उपाय नहीं रह जाता।

इसलिए कहा है ऋषि ने, संभूत ब्रह्म को जानकर मृत्यु से मुक्ति हो जाती है। लेकिन यह आधी बात है, यह आधा सूत्र है। अभी एक और जानने को छूट गया है, जो और गहन है। हम तो इसको ही नहीं जान पाते, इसी से उलझकर परेशान हो जाते हैं। अज्ञान में नाहक दीवारों से सिर फोड़ते रहते हैं। जहां दरवाजा नहीं है, वहां नाहक टकराते रहते हैं। ताश के घर बनाते रहते हैं, पानी पर रेखाएं खींचते रहते हैं। और उनके मिटने को देखकर रोते रहते हैं।

जिस दिन पानी पर रेखा खींचें उसी दिन जान लेना, उसी क्षण जान लेना कि पानी पर खींची गयी रेखा खींचते ही मिटना शुरू हो जाती है। इधर आपने खींची नहीं, उधर वह मिटने लगी। पानी पर रेखा खींचिएगा और स्थायी करने की कोशिश करि

एगा तो इसमें कसूर पानी का है कि रेखा का? कि आपका? इसमें दोष किसको दीजिए, पानी को, रेखा को? जो आदमी पानी को दोष देगा वह दुःखी होगा! जो समझेगा अपनी नासमझी, वह हंसेगा! जान लेगा कि पानी पर खींची गयी रेखा मिटती है—मिटनी ही चाहिए। खिंच जाए तो ही झंझट है।

संभूत ब्रह्म को ही हम नहीं समझ पाते, असंभूत को तो कैसे समझ पाएंगे?—प्रकट, जो है, बिल्कुल सामने जो खड़ा है! मौत से ज्यादा प्रकट कोई चीज है? धोखा दिए जाते हैं अपने को, डिसेप्शन दिए जाते हैं! कोई दूसरा मरता है तो कहते हैं, बेचारा मर गया। खयाल ही नहीं आता कि अपनी मरने की खबर आई है।

एक पंक्ति मुझे याद आती है एक आंग्ल कवि की। कोई मर जाता है गांव में तो चर्च की घंटी बजती है। उस पंक्ति में कहा है, किसी को भेजो मत पूछने, कि घंटी किसके लिए बजती है? 'इट टाल्स फार दी'—तुम्हारे लिए ही बजती है! बिना पूछे ही जानो कि तुम्हारे लिए ही बजती है। मौत जैसा प्रकट तत्त्व ऐसा हम छिपाकर चलते हैं कि अगर कोई मंगल ग्रह का यात्री हमारे बीच उतरे और दो-चार दिन हमारे घर में रहे तो दो चीजों का उसको पता नहीं चलेगा, जो दोनों जुड़ी हैं।

खयाल में ले लें! उसे पता नहीं चलेगा कि मौत होती है। उसे पता नहीं चलेगा कि सैक्स होता है। सैक्स को भी हम छिपाए हैं, मौत को भी हम छिपाए हैं।

ध्यान रखें : सैक्स जन्म सूत्र है। वह संभूत ब्रह्म का पहला चरण है। और मौत आखिरी सूत्र है, वह आखिरी चरण है। मृत्यु के भय की वजह से सैक्स का दमन शुरू हुआ। वह पहला सूत्र है कि अगर मौत को दबाना है तो जन्म की प्रक्रिया को भी भुला देना होगा। क्योंकि जन्म के साथ मौत जुड़ी हुई है।

इसलिए जन्म हम अंधेरे में छिपा देते हैं। जन्म की प्रक्रिया को पर्दों में डाल देते हैं। और मौत को हम गांव के बाहर निकाल देते हैं। कब्रिस्तान बना देते हैं दूर। कब्र पर फूल बो देते हैं कि कोई निकले भी कब्र के पास भूलचूक से तो फूल दिखाई पड़ें, कब्र दिखाई न पड़े। लाश को ले जाते हैं तो फूलों में ढांक लेते हैं। वह मरा हुआ दिखाई न पड़े, खिला हुआ दिखाई पड़े। कितने ही फूलों में ढांको, लेकिन जो मर गया, वह मर गया—कितनी ही खूबसूरत कब्रें बनाओ और कब्रों पर कितने ही मजबूत पत्थर लगाओ और उन पर नाम लिखो! जब कब्र के भीतर जो पड़ा है आज, वह न बच सका, तो पत्थरों पर लिखे हुए नाम कितनी देर बचेंगे? और कब्र को कितना ही गांव के बाहर सरकाओ, मौत गांव में ही घटती रहेगी—कब्रिस्तान में नहीं घटेगी!

इधर हम सैक्स को दबाते हैं, छिपाते हैं, क्योंकि वह जन्म है। उसको भी दबाने और छिपाने के पीछे अचेतन कारण है। कारण यही है कि वह पहला सूत्र है। अगर उसको उघाड़कर रखा तो मौत भी उघड़ जाएगी। वह भी बच नहीं सकती ज्यादा दिन। इसलिए बड़े मजे की बात है कि जिन समाजों में सैक्स सप्रेशन समाप्त हुआ है—जहां-जहां समाज ने सैक्स को मुक्त कर दिया, प्रकट कर दिया, वहां-वहां मौत की चिंता बढ़ गई।

मैंने सुना है, यहूदी बच्चा एक दिन अपने घर लौट आया। स्कूल से समझकर आया है कि बच्चों का जन्म कैसे होता है? नए ज्ञान से बहुत आह्लादित है, किसी को ब ताने को उत्सुक है। घर आकर उसने अपनी मां को पूछा कि मेरा जन्म कैसे हुआ? उसकी मां ने कहा परमात्मा ने तुझे भेजा। मेरे पिताजी का जन्म कैसे हुआ? उनको भी परमात्मा ने भेजा। उनके पिताजी का जन्म कैसे हुआ? मां थोड़ी हैरान हुई! उ सने कहा, उनको भी परमात्मा ने भेजा। वह पूछते ही चला गया, और उनके पिता ? सात पीढ़ियां आ गयीं। मां ने कहा, उत्तर एक ही है। तो उस लड़के ने कहा कि इसका क्या मतलब होता है? 'व्हाट डज़ दिस मीन?' सैक्स हैज नाट एक्ज़िस्टेड इ न अवर फैमिली फार सेवन जेनरेशंस?' सात पीढ़ियों से सैक्स हमारे घर में है ही न हीं? क्योंकि मैं तो स्कूल में पढ़कर आ रहा हूं कि बच्चे ऐसे पैदा होते हैं?

नहीं, बहुत अचेतन भय है सैक्स को दबाने का। वह जन्म का पहला सूत्र है। जब त क बच्चों को पता नहीं है कि कैसे पैदा होता है आदमी, तब तक वे यही पूछते च ले जाते हैं, कैसे पैदा होता है? जिस दिन पता चल जाएगा, कैसे पैदा होता है, वे पूछेंगे, मरता कैसे है? पैदा होनेवाले सूत्र को ही छिपाए चले जाओगे, उसी के आस -पास घूमते रहेंगे और पूछते रहेंगे, और कभी मौका नहीं आएगा कि पूछें, मरता कै से है? जब तक पता नहीं चला कि पैदा कैसे होता है तो मरने का सवाल नहीं उठ ता।

ध्यान रहे, पैदा होने का सूत्र साफ है तो दूसरा सवाल मौत के सिवाय अन्य नहीं हो सकता। इसलिए दबा दिया इधर काम को, छिपा दिया उधर कब्र को, उधर मृत्यु को छिपा दिया। उन दोनों के बीच में हम जीते हैं अंधेरे में। निश्चित ही बहुत भय भीत जीते हैं। न जन्म का पता, न मौत का पता, फिर भय तो होगा ही।

संभूत ब्रह्म जो इतना प्रकट है, साफ है, उसको भी हम झुठलाते हैं। तो असंभूत जो अप्रकट है, अन-अभिव्यक्त है, उसका तो कहना ही क्या? वहां तक हम पहुंचेंगे कै से? जन्म और मृत्यु को ठीक से जान लें—एक ही चीज के दो छोर हैं। वर्तुल का प्रा रंभ है जन्म, उसी वर्तुल का अंत है मृत्यु। मृत्यु उसी जगह पहुंचकर होती है, जहां से जन्म होता है। मृत्यु की घटना और जन्म की घटना एक ही घटना है।

क्या होता है जन्म में? शरीर निर्मित होता है। पुरुष और स्त्री के अणुओं से कंपोजि ट बॉडी निर्मित होते हैं। आधे-आधे दोनों के पास हैं इसलिए स्त्री-पुरुष का इतना अ ाकर्षण है। इसलिए वह आधे तत्त्व दोनों खिंचते हैं। पूरा होना चाहते हैं। इसलिए स ब विधि-विधान, सब नियम, सब सिद्धांत, सब शिक्षकों को छोड़कर बच्चे पैदा होते चले जाते हैं। सिर्फ ब्रह्मचर्य की शिक्षाएं देनेवाले लोग आते हैं और चले जाते हैं, को ई परिणाम दिखायी नहीं पड़ता।

आकर्षण इतना गहरा है कि सब शिक्षाएं ऊपर ही रह जाती हैं। जैसे हमने एक ची ज को दो टुकड़ों में तोड़ दिया हो और वे वापस मिलना चाहती हों। मिलते ही नया शरीर निर्मित हो जाता है। आधे अणु स्त्री देती है, आधे अणु पुरुष देता है। जन्म का मतलब है, पुरुष और स्त्री के आधे अणुओं से मिलकर पूरे शरीर का निर्माण।

जैसे ही यह शरीर निर्मित होता है, एक आत्मा उसमें प्रवेश कर जाती है। जिस आत्मा की आकांक्षाएं उस शरीर से पूरी होती हैं, वह आत्मा प्रवेश कर जाती है। यह प्रवेश वैसा ही सहज, स्वचालित है जैसे कि यहां पानी गिरता है और गड्ढे में प्रवेश कर जाता है। उतना ही नियमित है। आत्मा अपने अनुकूल गर्भ को खोजकर प्रवेश कर जाती है।

मृत्यु में क्या होता है? वह जो आधे-आधे तत्त्व मिले थे, वापस बिखरने लगते और टूटने लगते हैं, कुछ और नहीं होता। भीतर से जोड़ फिर शिथिल होने लगता है। बुढ़ापे का अर्थ है, जोड़ शिथिल होना। भीतर की जो 'कंपोजिट बॉडी' थी वह 'डिकंपोज' होने लगी। जो जुड़ा था, वह फिर बिखरने लगा। उसके बिखरने का सूत्र जन्म के दिन ही तय हो गया और किसी ढंग से नहीं, वैज्ञानिक के ढंग से तय हो गया। हमारा ज्ञान कम है, विज्ञान का है, लेकिन बढ़ता जा रहा है। आज नहीं कल, बच्चे के जन्म के साथ हम कह सकेंगे कि इसकी 'बिल्ट-इन-प्रोसेस' कितने दिन चल सकती है? बच्चा सत्तर साल चल सकता है कि अस्सी साल चल सकता है कि सौ साल चल सकता है। ठीक वैसे ही जैसे हम एक घड़ी की गारंटी देते हैं कि दस साल चल सकती है। क्योंकि इसके कल-पुर्जों की परख कहती है कि दस साल तक के संघर्ष को झेल लेगी—हवा के, ताप के, गति के। दस साल के संघर्ष को झेलकर बिखर जाएगी।

जिस दिन बच्चा पैदा होता है उस दिन दोनों के अणु मिलकर यह तय कर देते हैं कि यह कितने दिन तक हवा, पानी, गर्मी, बरखा, धूप, दुःख, पीड़ा, संघर्ष, मिलन, विरह, मित्रता, शत्रुता, आशा, निराशा, रात-दिन इन सबको झेल सकेगा। और झेलते-झेलते बिखरने लगेगा। और वह दिन आ जाएगा जब ये मिले थे अणु, वे बिखर कर अलग हो जाएंगे। उनके अलग होते ही आत्मा को, शरीर छोड़ देना पड़ेगा।

मृत्यु और यौन, सैक्स और डैथ एक ही चीज के दो छोर हैं। यौन जिसे मिलाता है, मृत्यु उसे बिखरा देती है। यौन जिसे संयुक्त करता है, मृत्यु उसे वियुक्त कर देती है। यौन अगर सिंथेटिक है तो मृत्यु एनालिटिक है। यौन संश्लिष्ट करता है, मृत्यु विश्लिष्ट कर देती है। घटना एक ही है। घटना में कोई फर्क नहीं है।

संभूत ब्रह्म को जो ठीक से जान ले वह इसकी स्वीकृति को उपलब्ध होता है। स्वीकृति विजय है। जिस चीज को आपने स्वीकार कर लिया उसके आप मालिक हो गए। दूसरी बात भी खयाल में ले लें। खयाल के लायक नहीं है दूसरी बात। खयाल में लेने से आएगी भी नहीं। पहली बात खयाल में आ जाए तो पर्याप्त है। दूसरी बात तो और गहन अनुभव की है। असंभूत ब्रह्म को जानने के लिए या तो जन्म के पहले जाना पड़े या मृत्यु के बाद जाना पड़े। उसके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं है।

इसलिए झेन फकीर जापान में जब कोई साधक उनके पास जाता है तो उससे वह कहते हैं कि तू जा, ध्यान कर और पता लगा कि जन्म के पहले तेरा चेहरा कैसा था! 'व्हाट्स यौर ओरीजिनल फेस?'—यह नहीं जो अभी है! यह नहीं जो कल था, यह नहीं जो परसों था। . . . ओरीजिनल—जो जन्म के पहले था, क्योंकि यह चेहरा

तो तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह आंख का रंग तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है। यह नाक तेरे मां-बाप से मिली है, तेरी नहीं है। यह चमड़ी का रंग तेरे मां-बाप से मिला है, तेरा नहीं है।

अगर नीग्रो मां-बाप होते तो यह काला हो जाता। अगर अंग्रेज मां-बाप होते तो ये गोरा हो जाता। यह 'पिगमेंट' शरीर के रंग का, यह तो तेरे मां-बाप से मिला है। यह अपना नहीं है। यह खुद का चेहरा नहीं है। खुद का चेहरा तो जन्म के पहले मिल सकता है या मौत के बाद मिल सकता है।

जन्म के पहले लौटना बहुत मुश्किल है। असंभूत ब्रह्म को जन्म के पहले जानना बहुत मुश्किल है। पहले तो मैंने कहा, असंभूत ब्रह्म को संभूत ब्रह्म के मुकाबले जानना बहुत मुश्किल है। अब मैं आपसे कहता हूं, दो उपाय हैं—या तो जन्म के पहले रिग्रेस कर जाएं। ध्यान में इतने पीछे चले जाएं उतरकर कि जन्म के पहले चले जाएं तो असंभूत का अनुभव हो। दूसरा उपाय यह है कि ध्यान में इतने आगे बढ़ जाएं कि मर जाएं और मौत के आगे निकल जाएं, तो असंभूत ब्रह्म का अनुभव हो जाएगा। इन दोनों में मरने का प्रयोग आसान है, क्योंकि वह भविष्य है। पीछे लौटना असंभव है, आगे ही जाना संभव है। बचपन के वस्त्र पहनने बहुत मुश्किल हैं, गर्भ में वापस लौटना अति कठिन है क्योंकि बहुत संकरा होता जाता है मार्ग। लेकिन ढीले वस्त्र, मौत के ढीले वस्त्र पहनने बहुत आसान हैं। मार्ग विस्तीर्ण होता चला जाता है।

ध्यान रहे, जन्म का द्वार बहुत छोटा है, मृत्यु का द्वार बहुत बड़ा है। दोनों में मृत्यु आसान है। वैसे जन्म के पार भी जाना संभव है। उसकी भी प्रक्रियाएं हैं, उसके भी मार्ग हैं, लेकिन अति कठिन हैं। मैं जिस ध्यान की बात कर रहा हूं वह मृत्यु का प्रयोग है। वह मृत्यु में छलांग है। अपने हाथ से मरकर देखना है। अगर घटना घट जाए और जानते हुए आप मृत्यु में उतर जाएं और ऐसे हो जाएं जैसे नहीं हैं तो असंभूत का चेहरा दिखायी पड़ेगा। वह चेहरा दिखायी पड़ेगा जो जन्म के पहले है और मृत्यु के बाद है, वह भी चेहरा है। प्रक्रिया भले ही दो हो जाए, पर बिंदु वह एक ही है। आप चाहे पीछे लौटकर उस बिंदु को देखें, चाहे आगे जाकर उस बिंदु को देखें, लेकिन सरल है आगे जाना।

इसलिए मेरा आग्रह मृत्यु पर है। मैं यह नहीं कहता कि आप लौटकर देखें, जन्म के पहले क्या चेहरा था! मैं कहता हूं, जरा आगे बढ़कर, झांककर देखें कि मृत्यु के बाद क्या चेहरा होगा?

मृत्यु स्वेच्छा से स्वीकृत, ध्यान बन जाती है। और अगर कोई व्यक्ति इस मृत्यु को सिर्फ थोड़े ही क्षणों में न जीना चाहे, बल्कि पूरे जीवन में जीना चाहे तो संन्यास बन जाता है। संन्यास का अर्थ है : जीते जी इस तरह से जीना जैसे मर गए!

एक झेन फकीर हुआ है, बोकोजू—संन्यास लिया उसने। गांव से गुजरता था, किसी आदमी ने गालियां दीं। उसने खड़े होकर सुनीं। पास की दुकान के मालिक ने कहा, खड़े होकर सुन रहे हो? वह गालियां दे रहा है। बोकोजू ने कहा, बट नाऊ आई ऐ

म डेड, लेकिन मैं मरा हुआ आदमी हूं। अब मैं जवाब कैसे दे दूं? उस आदमी ने कहा, मरे हुए आदमी? पूरी तरह जीते हुए दिखायी पड़ रहे हों!

तो बोकोजू ने कहा, जब मर ही जाऊंगा, तब मरने में मेरा क्या गुण होगा—जीते जी मर रहा हूं! इसमें कुछ मेरा गुण है। जब मर ही जाऊंगा, तब तो मरूंगा ही। तब तो सभी मरते हैं। मैं तो जीते जी मर गया हूं। उस होटल के मालिक ने कहा, हम कुछ समझे नहीं। तो बोकोजू ने कहा, जन्म तो अनजाने में हो गया। मृत्यु से जानकर गुजरना चाहता हूं। जन्म के वक्त चूक गया एक मौका, जबकि उसे जान सकता था, जो जन्म के पहले था, वह चूक गया—'दैट अपरचुनिटी हैज बीन मिस्ड'!

लेकिन ध्यान रहे, अगर मृत्यु अचानक आएगी, जैसा कि जन्म आया था तो उसको भी चूक जाएंगे। लेकिन अगर आपने तैयारी करके मृत्यु को दरवाजा दिया, आप तैयार रहें, तो ठीक है। संन्यासी का मतलब भी यही है—मरना अपनी तरफ से, स्वेच्छा से, 'वालंटरी डेथ'। मरते जाना . . .ऐसे होते जाना जैसे मर ही गए! जब कोई गाली दे तो जानना कि मैं मर गया हूं। जब आप मर जाएंगे और आपकी कब्र पर कोई खड़े होकर गाली देगा तब आप क्या करेंगे? वही करना! जब आप मर जाएंगे और आपकी खोपड़ी कहीं पड़ी होगी और कोई लात मारेगा तो जो उस वक्त करें, वही अभी भी करना—संन्यास का अर्थ यही है!

तो हम असंभूत ब्रह्म में उतर जाएंगे। और नहीं तो मौत का अवसर भी चूक जाएगा। और ऐसा नहीं कि एक दफा. . .कई दफा चूके! जन्म का भी कई बार चूका है, इस बार तो चूका ही है, इसके पहले जन्म का, अनेक बार का चूका, और मृत्यु का अनेक बार चूका। हम कोई नए नहीं हैं मरने और जीने में, पुराने अभ्यासी हैं। बहुत बार जन्म ले चुके, बहुत बार मर चुके, 'आफेन एडेक्टेड' हैं। यह ढंग हो गया है हमारा, पर यह ढंग आगे भी चलाना है या नहीं चलाना है, यह निर्णय लेना चाहिए। अभी एक अवसर आगे आ रहा है मौत का। उस अवसर के लिए तैयारी करते जाना चाहिए तो संभूत में प्रवेश हो जाएगा।

जो असंभूत में प्रवेश करता है, ऋषि कहता है, वह अमृत को जान लेता है। जो संभूत को जान लेता है वह मृत्यु को जीत लेता है। जो असंभूत में प्रवेश करता है वह अमृत को जान लेता है। क्योंकि जब हम मृत्यु में पूरी तरह प्रवेश कर जाते हैं, सब भांति मर जाते हैं और फिर भी पाते हैं कि नहीं मरे, तो अमृत की उपलब्धि हो गयी। जब कोई गाली देता है और आप मुर्दे की भांति होते हैं और फिर भी जानते हैं कि मैं हूं, और गाली का उत्तर नहीं आता।

जब कोई आपका हाथ काट दे, गर्दन काट दे, और गर्दन कटती हो, तब भी आप जानते हैं कि गर्दन कट रही है, फिर भी मैं हूं, तो अमृत का द्वार खुल गया। मृत्यु से जो बचेगा, अमृत से वंचित रह जाएगा। मृत्यु में जो उतरेगा, वह अमृत को उपलब्ध हो जाता है।

असंभूत ब्रह्म को जान लेना अमृत की उपलब्धि है क्योंकि असंभूत अमृत है। वह जन्म के पहले और मृत्यु के बाद है, इसलिए अमृत है। न वह कभी जन्मता है इसलिए उसके मरने का कोई उपाय नहीं।